हिन्दी के उपन्यासकार

लेखक

यज्ञदत्त शर्मा एम० ए०, साहित्य रत्न

भारती (भाषा) भवन, दिल्ली

प्रथम बार २०००] अक्टूबर १९५१ [मूल्य तीन रुपया

उन विद्यार्थियों को

जो इसे पढ़कर लाभ उठायेंगे।

लेखक

लेखक की अन्य पुस्तकें-

१.	विचित्र त्याग	उपन्यास
२.	ललिता	,,
३.	दो पहलू	,,
४.	प्रेम समाधि	,,
५.	सैनिक के पत्र	,,
६.	इन्सान	,,
७.	अंतिम चरण	,,
८.	जुबैदा	,,
९.	दया	नाटक

१०. हिन्दी साहित्य का सांकेतिक इतिहास।

११ हिन्दी का संक्षिप्त साहित्य

हिन्दी-उपन्यासकार

हिन्दी का गद्य ज्यों-ज्यों विकसित और परिमार्जित होता चला त्यों-त्यों उसमें गद्य-साहित्य का सृजन आरम्भ हो गया। हिन्दी-साहित्य में उपन्यासों का उदय संस्कृत-साहित्य की देन न होकर अँग्रेजी-साहित्य का प्रभाव है। हिन्दी में जब हम उपन्यास-साहित्य के प्राथमिक रूप पर दृष्टि डालते हैं तो हमारे सम्मुख कोई मौलिक रचना न आकर कुछ बँगला और अँग्रेज़ी के अनुवाद आते हैं। वास्तव में उपन्यास-साहित्य का हिन्दी में उदय मौलिक रचनाओं से न होकर अनुवादों से आरम्भ होता है—और उन अनुवादों में भी विशेष महत्व बँगला उपन्यासों का है।

अनुवादों की पृष्ठभूमि को छोड़कर जब हम उपन्यासों के मौलिक रचना-क्षेत्र में पदार्पण करते हैं तो हमारे सम्मुख तीन प्रधान उपन्यासकार बाबू देवकीनंदन खत्री, बाबू गोपाल राम गहमरी और पंडित किशोरी लाल गोस्वामी जी आते हैं। हिन्दी में यह उहन्यास-साहित्य का बाल-काल था जिसमें घटना-वैचित्र्य की प्रधानता रहती थी और भावानुभूति, रस-संचार तथा चरित्र-चित्रण का निताँत अभाव पाया जाता था। इस घटना-वैचित्र्य में घटनाओं की कलाबाजी तो ऊँचे दर्जे की थी परन्तु जीवन के विविध पक्षों पर दृष्टिपात करना लेखक अपना कर्तव्य नहीं

समझते थे। इस काल के लेखकों का दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं था कि उनकी पैठ मानव के संघर्ष और उसके क्रिया-कलापों तक हो पाती। यह इङ्गलैंड में विक्टोरिया-काल में लिखे गए जैसे उपन्यास थे। इन उपन्यासों को आज चाहे हम उच्चकोटि के उपन्यासों की श्रेणी में रखते हुए नाक-भौं सिकोड़ें परन्तु यही उपन्यास वास्तव में आज के युग के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के जन्मदाता हैं। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण तथा उपन्यास-साहित्य के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए यह उपन्यास और इनके लेखक हिन्दी जगत में विशेष सम्मान के पात्र हैं। उनका महत्व आज प्रगति के युग में काम करके नहीं आँका जा सकता।

समय ने प्रगति की, साहित्य ने प्रगति की, गद्य का विकास हुआ और उसकी परिमार्जित शैलियाँ विकसित हुईं। लेखक ने मानव और मानव की समस्याओं को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। देश, काल, राष्ट्र और उनकी आवश्यकताओं को पहिचाना और लेखनी-बद्ध किया। समाज पर दृष्टि डाली और भावना तथा बुद्धि के काँटे पर रख कर समाज और मानव को तौला, धर्म और पाखंड को पहिचाना, सद्भावना के साथ जीवन की आवश्यकताओं में लेखक घुसे और केवल कला-कला का नाम छोड़कर आदर्श और यथार्थवाद के समन्वय की रूप-रेखा साहित्य को प्रदान की। इस दिशा में मुं० प्रेमचन्द का उपन्यास-साहित्य हिन्दी की वह अमर थाती है कि जिसे लेकर वह संसार के उच्चतम साहित्य के मध्य गर्व के साथ खड़ा हो सकता है। प्रेमचन्द का साहित्य जनता का साहित्य है, राष्ट्रीय संघर्षों की देन है और भारत के जन समुदाय की मुखरित वाणी है।

जीवन के वास्तविक रहस्यों का उद्घाटन करके जितनी सरसता के साथ समाज और मानव के समक्ष उपन्यास साहित्य

ने अपने सुझावों को प्रस्तुत किया है उतने कलापूर्ण और रोचक ढंग से अन्य कोई भी साहित्य का अंग नहीं कर सका है। जिस कार्य में महाकाव्य सफल नहीं हो पाए उसकी पूर्ति उपन्यास साहित्य ने की है। उपन्यास लिखने में लेखक को चरित्र-चित्रण और रहस्योद्घाटन का जितना व्यापक क्षेत्र मिलता है उतना अन्य किसी भी साहित्यिक प्रणाली में नहीं मिलता। उपन्यास आधुनिक साहित्य का सबसे रोचक और व्यापक अङ्ग है जिसका एकाधिपत्य दिन प्रतिदिन अधिक प्रमाणिकता के साथ महत्वपूर्ण होता जा रहा है।

उपन्यास-क्षेत्र में हिन्दी ने विशेष रूप से प्रगति की है और एक से एक सुन्दर रचना साहित्य को प्रदान की है। उपन्यासों में आदि काल से चले आते हुए विषयों को भी अपनाया गया है, एकदम उनको छोड़ नहीं दिया गया, परन्तु फिर भी उनका प्रयोग दाल में नमक के ही तुल्य है। कविता साहित्य का जिस प्रकार प्रधान विषय धर्म रहा है उस प्रकार उपन्यास का नहीं बन सका। उपन्यास ने विशेष रूप से राष्ट्र, समाज, इतिहास और मानव को ही अपनाया है और यही उसके प्रधान विषय रहे हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों में घटना प्रधानता पर बल अवश्य दिया गया है परन्तु साहित्य की प्रगति के साथ-साथ उसका अपने आप लोप हो गया और धीरे-धीरे चरित्र-प्रधान उपन्यास क्षेत्र में आए। नाटकीय उपन्यास लिखे गए, आदर्शवादी और यथार्थवादी रचनाएँ हुई और कुछ बहुत सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास वृन्दावनलाल वर्मा जैसे प्रतिभाशाली लेखकों ने सृजन किए। लेखक ने इन उपन्यासों में भारत की प्राचीन संस्कृति के महत्वपूर्ण चित्रों को एक विशेष आदर्श के साथ रचनाबद्ध किया और प्राचीन तथा आधुनिक विचारावलि का कला पूर्ण समन्वय करके हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति की और पाठकों को साँस्कृ-

तिक चेतना का उपहार आधुनिक विकास की थाली में सजा कर प्रदान किया।

इस प्रकार हिन्दी के उपन्यास साहित्य ने प्रगति की ओर खाली भावुकता के खोखले दृष्टिकोण से उभर का बौद्धिक विकास के व्यापक क्षेत्र में पदार्पण किया। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम खोजों से अपने दृष्टिकोण को विस्तृत बनाने में संकोच त्याग कर पूर्ण सहानुभूति से काम लिया। विदेशी साहित्य का अध्ययन करके प्रतिभाशाली लेखकों ने नवीन से नवीन शैली का विकास किया और अपने अथक प्रयत्नों द्वारा उपन्यास-साहित्य का निर्माण किया। हिन्दी उपन्यासकारों की सफलता का ज्वलंत प्रमाण और जाग्रत उदाहरण आज का सजीव उपन्यास साहित्य है। इस पुस्तक में उपन्यास-साहित्य के प्रधान महारथियों के साहित्य, विचार धारा और उनके साहित्यिक दृष्टिकोण पर समालोचनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

लेखक

(१)

देवकी नन्दन खत्री

(१८६१—१९१३)

[देवकी नन्दन जी खत्री का प्रादुर्भाव हिन्दी गद्य के उस विकास-काल में हुआ जब एक ओर तो भाषा परिमार्जन की ओर अग्रसर हो रही थी और दूसरी ओर साहित्य की बहुमुखी धाराओं का प्रस्फुटन बँगला और अँग्रेज़ी साहित्य के सम्पर्क में आकर होता जा रहा था। उपन्यास साहित्य अनुवाद के क्षेत्र को छोड़कर मौलिक विचार-धाराओं में बहने की इच्छा करता हुआ कल्पना के परों पर उड़ने लगा था और उसकी इस उड़ान कर्त्ताओं में उपन्यास साहित्य के सर्वप्रथम महारथी श्री देवकी नन्दन जी खत्री थे। देवकीनंदन जी ने उसे शक्ति प्रदान की, बल दिया और एक निर्धारित मार्ग सुझा कर घटना-प्रधान उपन्यासों की नींव रखी।]

सन् १८६१ में देवकी नन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास लिखे। इनके प्रकाशन से हिन्दी साहित्य में एक बार ऐसी खलबली मच गई कि उर्दू पढ़ने वाले पाठक भी इन उपन्यासों को पढ़ने के लिये लालायित होकर हिन्दी पढ़ने पर बाध्य हो गये। हिन्दी के पाठक कविता से ऊब चुके थे। उन्हें उपन्यास का एक नवीन और व्यापक क्षेत्र मिला और उसे उन्होंने जी खोल कर अपनाया। रीति-कालीन शृंगार के संकुचित और एकांगी क्षेत्र से निकल कर लेखक तथा पाठक ने बाहर की दुनियां में झांका और स्वतंत्र वातावरण में पदार्पण करने का

आनन्द लाभ किया। साहित्यिक पाठ्य-सामग्री का क्षेत्र कविता के रूढ़िवादी संकुचित बंधनों को तोड़कर व्यापक हो चला।

यह उपन्यास कल्पना की तूलिका से ही चित्रित किये गये थे और इसी लिये इनमें स्वाभाविकता की अपेक्षा अस्वाभाविकता को विशेष प्रश्रय मिला था, परन्तु एक नवीन विषय होने के कारण हिन्दी के पाठकों ने इन उपन्यासों को विशेष रुचि के साथ अपनाया। स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द जी के मतानुसार इन उपन्यासों का बीजांकुर देवकी नन्दन जी खत्री ने सम्राट अकबर के प्रसिद्ध दर्बारी कवि फैज़ी की "तिलस्म होशरुबा" से लिया है, परन्तु हमारा मत यह है कि यह दोनों ही ग्रंथ खत्री जी के मौलिक ग्रंथ हैं और इन पर किसी अन्य साहित्यकार के किसी ग्रंथ की कोई छाप नहीं है। यह ग्रंथ खत्री जी की मौलिक रचनायें हैं। इनकी रचना उन्होंने विशेष सूझ-बूझ के साथ की है। कहते हैं कि इन रचनाओं को लिखते समय खत्री जी कभी एक साथ पाण्डु-लिपि तय्यार करने के लिये नहीं बैठे, बल्कि जो कुछ लिखते जाते थे उसे उसी समय प्रेस में दे देते थे और इस पर भी उनका क्रम कहीं पर टूटने नहीं पाया है। समकालीन व्यक्तियों का कथन है कि देवकी नन्दन जी खत्री की स्मरण-शक्ति विशेष रूप से प्रखर थी।

देवकी नन्दन जी ने अपनी रचनाओं में ऐयारी और तिलस्म की जिस कला का प्रदर्शन किया है वह आपकी मौलिकता और व्यापकता का जीवित प्रमाण है। इन दोनों ही क्षेत्रों में कोई भी ऐसी कला प्रतीत नहीं होती जिसका खत्री जी को आचार्य मानने में हमें संकोच होने लगे। खत्री जी के उपन्यासों में जो कुछ भी मिलता है उसी को लक्ष्य करके लेखक ने रचना लिखी है। कुछ समालोचक कभी-कभी देवकी नन्दन जी की रचनाओं को पढ़कर उन पर यह आक्षेप करने का प्रयत्न करते हैं कि उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज, मानव और राष्ट्र की छाया को नहीं आने

दिया और न ही आदर्शवाद और यथार्थवाद का अपनी रचनाओं में ध्यान रखा है। इस प्रकार के समालोचकों को खत्री जी स्वयं ही उत्तर दे गये हैं, "कुछ दिन हुए मेरे कुछ मित्रों ने संवाद पत्रों में 'चन्द्र कान्ता' के विषय में आंदोलन उठाया कि इसका कथानक सम्भव है अथवा असम्भव। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई गई? जिस प्रकार पंचतंत्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गये थे उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये हैं; पर यह सम्भव है कि असम्भव, इस पर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकांता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल होगी। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह छोटा सा नमूना है।" इस प्रकार खत्री जी ने अपने उपन्यास साहित्य का सृजन जिस उद्देश्य से किया है उसका यहां पर व्यापक स्पष्टीकरण हो जाता है। पाठक का मनोविनोद खत्री जी की रचनाओं का विशेष ध्येय था और इसी प्रधान लक्ष्य को लेकर उपन्यासकार ने अपनी रचनायें साहित्य को प्रदान की हैं और वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण रूप से सफल भी रहा है।

'चन्द्रकान्ता' में एक राजकुमारी से दो राजकुमार प्रेम करते हैं और उन्हीं दोनों के पारस्परिक संघर्ष की कथा इस उपन्यास में वर्णित है। आपसी संघर्ष में न केवल अस्त्र-शस्त्रों का ही प्रयोग मात्र मिलता है वरन् चालाकी और कुटिलता का भी पूर्ण रूप से प्रयोग किया गया है। यह राजकुमारी विजयगढ़ के राजा जयसिंह की अनुपम सुन्दर कन्या है। नौगढ़ का राजकुमार वीरेन्द्रसिंह उससे प्रेम करता है और राजकुमारी भी राजकुमार के गुणों पर मोहित है, परन्तु मंत्री का कुटिल पुत्र क्रूरसिंह बीच में बाधा स्वरूप उपस्थित हो जाता है। अंत में विजय वीरेन्द्रसिंह की ही होती है और राजकुमारी से उसका विवाह भी हो जाता है।

'चन्द्रकान्ता संतति' में चन्द्रकांता की संतति तिलस्म और ऐयारी का चमत्कार प्रदर्शित करती है। इस उपन्यास में भी संघर्ष के मूल में प्रेम ही आता है। यह उपन्यास कई भागों में प्रकाशित हुआ है। नदी, नाले, पहाड़, बन, महल, गुफ़ा इत्यादि स्थानों का उपन्यास में सुन्दर चित्रण दिया गया है। पाठकों के मनोरंजन की कोई भी उपलब्ध सामग्री लेखक ने उठा नहीं रखी है। उपन्यास घटना प्रधान होते हुए भी उसमें स्थान-स्थान पर हृदय-स्पर्शी चित्रण लेखक ने भावुकता पूर्वक दिये हैं। इसमें स्त्री-सौंदर्य का सुन्दर चित्रण अवश्य है परन्तु वासना प्रधान विचारों और कामनाओं को जागृत करने वाले स्थल प्रस्तुत करने का लेखक ने प्रयत्न नहीं किया है। देवकी नन्दन जी खत्री के यही दो उपन्यास हिन्दी साहित्य की अमर थाती हैं जिनका महत्व हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों से लिखा जायेगा।

इन उपन्यासों में घटना वैचित्र्य की प्रधानता है, तिलस्म और ऐयारी का साम्राज्य है और चमत्कार को प्रधानता दी गई है; परन्तु कहीं पर भी लेखक का ध्यान चरित्र-चित्रण, रस-संचार और भावानुभूति की ओर नहीं गया। इन उपन्यासों को पढ़कर यह सत्य है कि कोई विशेष समस्या का हल नहीं निकलता और न ही किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है परन्तु मानव की कुतूहल-वृत्ति को प्रश्रय अवश्य मिलता है। नानी की कहानियों का व्यापक और परिमार्जित रूप हम इन्हें अवश्य मान सकते हैं और मानव-समाज के संचालन में जहाँ गम्भीर विषयों का एक स्थान है वहाँ इनकी भी अपनी विशेषता है और अपना पृथक स्थान है। इन उपन्यासों के पाठकों का ध्यान पात्रों पर केन्द्रित न होकर पात्रों के क्रिया-कलापों पर केन्द्रित होता है। पात्रों का जीवन लेखक की लेखनी के संकेत मात्र पर नृत्य करता है। पृथ्वी, पाताल और आकाश सब स्थानों

विशेषता

पर लेखक अपने पात्रों को साधारण इंगित मात्र से नचाता है और वह करिश्मे पैदा करता है कि पाठक वाह-वाह कह उठे। लेखक अपने इस कार्य में पूर्ण रूप से सफल रहा है।

लेखक ने अपना सम्बन्ध केवल पाठकों की मनोरंजक सामग्री से रखा है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से नहीं। मानव के सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण को लेकर आपने अपने उपन्यासों का स्रजन नहीं किया। इन उपन्यासों के पात्र हृदय हीन यंत्रों के समान लेखक के हाथों में नांचने वाले खिलौने हैं जिनमें राग, द्वेष, करुणा, क्रोध, प्यार, घृणा यह सब स्वाभाविक रूप से जागृत नहीं होते। 'चरित्र-सृष्टि' के महत्व को समझने का न तो लेखक ने प्रयत्न ही किया है और न यह स्वाभाविक रूप से पात्रों में आ ही पाई है। इन उपन्यासों के पात्र कहीं-कहीं पर तो इतने दुरूह हो उठते हैं कि इन्हें मानव कहने में भी संकोच होने लगता है। इन उपन्यासों के पात्रों में जो बाजीगिरी मिलती है, वह अद्वितीय है और उसी लक्ष्य को लेकर देवकी नन्दन जी ने इन उपन्यासों की रचना की है। इन उपन्यासों का स्रजन मानव के बौद्धिक विकास के लिये न तो लेखक ने किया ही है और न ही समालोचक को इनमें बौद्धिक विकास या चरित्र चित्रण खोजने की भूल ही करनी चाहिये।

इन उपन्यासों से हिन्दी का प्रचार बढ़ा और हिन्दी साहित्य में एक नवीन धारा का प्रादुर्भाव हुआ। अन्य भाषा-भाषियों ने केवल इन उपन्यासों को पढ़ने के लिये हिन्दी पढ़ी यह हम ऊपर कह चुके हैं। इन उपन्यासों में घटनाओं का सुगठन इतना सुन्दर है कि पाठक उनकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। घटनाओं की क्रमबद्धता स्थापित रखने में लेखक ने असाधारण प्रतिभा से काम लिया है। कहीं पर भी घटनाओं का तारतम्य शिथिल नहीं होने पाया है और लेखक ने कथा के

क्रम को बहुत सुन्दर और रोचक ढंग से विस्तार के साथ आगे बढ़ाया है।

बाबू देवकी नन्दन जी खत्री की भाषा में न तो उस काल का प्रसिद्ध पंडिताऊपन ही है और न विशेष रूप से चलतापन ही है।

भाषा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार उसमें हिन्दी और उर्दू के शब्दों का ऐसा सम्मिश्रण मिलता है कि जिससे पाठक उनके उपन्यासों को पूर्ण रोचकता के साथ पढ़ सकें। राजा शिवप्रसाद वाली 'आम-फ़हम' भाषा का प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है, यह भी कुछ विद्वानों का मत है। कुछ भी सही परन्तु, उनकी भाषा समय के परिमार्जन को ध्यान में रखते हुए, उपन्यासानुकूल भाषा थी और पाठकों ने उसे सुरुचि पूर्वक अपनाया है।

'चन्द्रकता' खत्री जी की प्रधान रचना है जिसके कारण खत्री जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वदा अमर रहेंगे।

अन्य रचनायें

'चन्द्रकांता' के अतिरिक्त, काजर की कोठरी, 'कुसुम कुमारी, नरेन्द्र-मोहनी, वीरेन्द्र वीर, इत्यादि आपने कई अन्य उपन्यास भी लिखे हैं। 'कुसुम कुमारी' और 'वीरेन्द्र वीर' उपन्यास खूनी उपन्यास हैं, जिनमें ऐयारी और तिलस्म का पूर्ण प्रयोग लेखक ने किया है।

इस प्रकार देवकी नन्दन जी खत्री ने हिन्दी साहित्य में घटना-प्रधान उपन्यास लिखकर मौलिक उपन्यासों की धारा को प्रवाहित किया, जिसका अनुकरण बाद में आने वाले कई लेखकों ने सफलता पूर्वक किया और आपने हिन्दी के पाठकों को मनोरंजन की सुन्दर सामग्री प्रदान की।

(२)

गोपालराम गहमरी

[घटना प्रधान उपन्यासों का जो क्षेत्र देवकीनन्दन जी खत्री ने हिन्दी साहित्य में तय्यार किया उस क्षेत्र में आने वाले दूसरे सफल उपन्यासकार गोपालराम जी गहमरी हैं। पाठकों की अभिरुचि का ज्ञान देवकीनन्दन जी की रचनाओं की लोकप्रियता से स्पष्ट हो गया था। हिंदी के पाठक आँखें पसारे घटना-प्रधान मनोरंजक उपन्यास साहित्य के लिये उतावले हुए बैठे थे। 'चन्द्रकान्ता' को कई-कई बार पढ़कर अब वह नई पुस्तकें प्राप्त करने की आशा में थे। तिलस्म और ऐयारी के अतिरिक्त कुछ नवीनता भी पाठक चाहते थे। ठीक इसी समय गहमरी जी अपने जासूसी उपन्यास लेकर हिन्दी पाठकों के सम्मुख आये। हिन्दी के पाठकों ने आपका हाथों हाथ स्वागत किया और लेखक को भरसक उत्साह प्रदान किया। लेखक ने बड़े परिश्रम और उत्साह से काम लेकर मौलिक तथा अनुवादों से पाठकों का मनोरंजन करने में कोई कसर उठा नहीं रखी।]

जासूसी उपन्यास पूर्ण रूप से अँगरेज़ी साहित्य की देन हैं। देश की अराजकता को समाप्त करने में स्काटलैंड यार्ड के जासूसी विभाग ने जो चमत्कार पूर्ण कार्य किया उसका वर्णन इंगलैंड के उपन्यासकारों ने चार-चार चांद लगाकर किया है और इस प्रकार एक ऐसे जासूसी साहित्य का निर्माण हुआ जिसमें घटना प्रधानता के साथ-साथ केवल कोरी चमत्कार-वृत्ति की ही प्रधानता नहीं रही, वरन् कुछ वास्तविक तथ्य भी सामने आये।

जासूसी साहित्य का उदय

उसका मानव-जीवन से बहुत कुछ सम्बन्ध ठहरा। जासूसी विभाग की निर्भयता और बुद्धि-चातुरी का ही इस साहित्य में विशेष रूप से दिग्दर्शन मिलता है। इंगलैंड की जनता हत्यारों और डाकुओं से परेशान थी। इसलिए वहाँ इस साहित्य का विशेष सम्मान हुआ और पाठकों के लिये यह अधिकाधिक हृदयग्राही बनता चला गया। इसी प्रकार के उपन्यास हिंदी में श्री गहमरी जी ने लिखे और उनमें निर्भीक जासूसी विभाग के कार्यकर्त्ताओं की मुक्त कंठ से रोचकता के साथ उन्होंने प्रशंसा की।

अराजकता इस समय भारत में भी कम नहीं थी। जनता ने व्यवस्था की भावना में जब मनोरंजन की सामग्री प्राप्त की तो उन्होंने अपना ध्यान विशेष रूप से उपन्यास साहित्य की ओर लगा लिया। 'फ़िलिप ओपेनहम', 'शरलाक होम्स', 'एडगर बैलेस' आदि उपन्यासकारों ने जासूसी विषयों पर जैसी मनोरंजक रचनायें की थीं गहमरी जी ने भी उसी प्रणाली को अपनाया और हिंदी के उपन्यास-भंडार को भरना प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार अंगरेज़ी में 'ब्लेक सीरीज़', 'सिक्स पेन्स सीरीज़' और 'फ़ोर पेन्स सीरीज़' इत्यादि प्रकाशित हुईं उसी प्रकार हिंदी में भी रचनायें प्रकाशित की जाने लगीं और उनका पाठकों ने बहुत अच्छा स्वागत किया। ह्वीलर के बुक स्टालों पर उनकी अच्छी मांग हुई और रेल के यात्रियों ने यात्रा-समय को सफल बनाने के लिये उन पुस्तकों का सुन्दर उपयोग किया।

गहमरी जी ने 'जासूस' नाम का एक मासिक पत्र निकाला जिसमें उनके धारा-वाहिक उपन्यास प्रकाशित हुए। हिंदी पाठकों में इस पत्र ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की और यह पत्र आज तक भी सफलता पूर्वक चलता चला जा रहा है। जैसा इस पत्र का नाम है इसमें वैसी ही जासूसी विषय की सामग्री रहती है और वह भी विशेष रूप से

'जासूस' पत्र

घटना प्रधानता को लिये हुए। चरित्र-चित्रण की ओर इन उपन्यासों में भी ध्यान नहीं दिया गया। इस पत्र से उपन्यास पठन-पाठन को प्रोत्साहन अवश्य मिला है और यही एक बहुत महत्व-पूर्ण बात है क्योंकि उपन्यासों की मांग ने ही पाठकों में उच्चकोटि के उपन्यास पढ़ने की जिज्ञासा उत्पन्न की और लेखकों में विश्व-साहित्य पर दृष्टि डालने की उमंग पैदा हुई। लेखकों ने उपन्यास के व्यापक क्षेत्र का विश्लेषण प्रारम्भ किया और नवीनतम दृष्टि-कोणों को प्रकट करने के योग्य अपनी भाषा और अपने विचारों को बनाया।

तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यास

जिस घटना-प्रधान उपन्यास-क्षेत्र का निर्माण हिंदी जगत में देवकीनन्दन जी खत्री ने किया था उसमें सुन्दर जासूसी उपन्यासों की रचना करके गोपालराम जी गहमरी ने उपन्यास साहित्य को एक विशेष आकर्षक और क्रांतिकारी विचार धारा तथा साहित्य की देन प्रदान की। ऐयारी-उपन्यासों के अंतर्गत घटनाओं के जमघट में मार्ग-प्रदर्शन-कार्य नायक को करना होता था। कोई क्रम बद्धता उन घटनाओं में स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलती। घटनायें स्वतन्त्र रूप से बिखरी हुई रहती हैं और उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का कोई स्वतन्त्र माध्यम नहीं होता। केवल नायक के ही सम्पर्क में आकर उन घटनाओं का कुछ ढांचा तय्यार होता है और यदि वह नायक एक क्षण के लिये भी पाठक की दृष्टि से ओझल हो जाये तो कथा एक भान-मती का पिटारा बनकर पाठक को बोझिल सी प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार के उपन्यासों में नायक का पल्ला पकड़ कर ही पाठक एक गहन बन की यात्रा करता है परन्तु जासूसी उपन्यासों में परिस्थिति इसके बिलकुल ही विपरीत है। जासूसी उपन्यासों की घटनायें क्रम बद्ध होती हैं। इनकी घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध

रहता है और विना किसी क्रम के कोई घटना आगे नहीं बढ़ती। घटनायें सर्वदा कार्य कारण रूप में गुँथ कर प्रगति करती हैं, केवल कल्पना के आधार पर नहीं। इन उपन्यासों में मानव की भावनाओं को जाग्रत करने की अधिक शक्ति वर्तमान रहती है और आशा, निराशा, शोक, ताप इत्यादि भावनायें घटनाओं के क्रम में आकर स्वयं उद्दीप्त हो उठती हैं। जिस प्रकार 'चन्द्रकान्ता' को पढ़ने से केवल कपोल कल्पित कल्पना के अतिरिक्त पाठक के और कुछ हाथ नहीं लगता उस प्रकार का अभाव हमें जासूसी उपन्यासों के पढ़ने के पश्चात् नहीं होता। इन उपन्यासों में कोरी हवाई घोड़ों की ही उड़ान नहीं है वरन देश और काल की आवश्यकता की छाया भी सजीव रूप से मिलती है। यह उपन्यास एक प्रकार से अव्यवस्था के प्रति विद्रोह हैं और आतंक के विपरीत साहस की कसौटी।

ऐयारी के उपन्यासों का क्षेत्र अपरिमित होता है और उनका कार्यकलाप भी प्रतिबन्ध विहीन होता है। उनका क्षेत्र इतना व्यापक है कि जहां पर भी कल्पना की उड़ान जा सकती है वहीं पर ऐयारी-प्रधान उपन्यास का नायक पहुँच सकता है। परन्तु जासूसी उपन्यास का क्षेत्र सीमित है। जासूसी उपन्यासों में भावुकता की अपेक्षा बुद्धि का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है और यह उपन्यास तिलस्मी उपन्यासों की अपेक्षा मानव के कार्य कलापों के अधिक निकट है। मानव की शक्तियां सीमित हैं, परिमित हैं। इसलिये इन उपन्यासों का क्षेत्र भी सीमित और परसित हो जाता है जिनमें मानवी भावना और बुद्धिगम्य पात्रों का चित्रण किया गया है। जासूसी उपन्यासों के विषय शेखचिल्ली की कहानियां अथवा 'अलादीन के चिराग़' की गाथायें नहीं बन सकतीं। बुद्धि और विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों का प्रयोग मात्र ही एक जासूसी उपन्यासकार कर सकता है। एक डाकू को बन्दी

बनाने के लिए एक जासूस रेल, तार, फ़ोन, मोटर, हवाई जहाज़ इत्यादि का ही आश्रय लेकर सफल हो सकता है, जादू की बाँसरी बजाकर अथवा मुख में सर्वसिद्धिफल दबा कर नहीं। 'ओपिन सीसेम' कहने मात्र से उसके सम्मुख बड़े-बड़े ख़ज़ानों के द्वार नहीं खुल सकते। 'सेना' शब्द मात्र उच्चारण करने से उसके सम्मुख उसकी सहायता के लिये 'सेना' नहीं आ सकती। इस प्रकार हमने देखा कि जासूसी उपन्यास एक विशेष प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होकर मानव के अधिक निकट आ गये और इसीलिये उनका सम्मान भी पाठकों ने विशेष साहस के साथ किया। देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम जी गहमरी के उपन्यासों की तुलना करने में भी हमें उक्त विचारावली को पूर्ण रूप से ध्यान में रखना चाहिये।

गहमरी जी के उपन्यासों की विशेषता

'श्री गहमरी' जी ने अपने उपन्यासों में अधिक पात्रों का जमाव न रखकर कुछ चुने हुए पात्रों को ही लिया है। आधुनिक समाज का भी चित्र उनके उपन्यासों में मिलता है और चरित्र-चित्रण को भी एक दम भुला कर आप अपने साहित्य में नहीं चले हैं। यह चरित्र-चित्रण वास्तव में चरित्र-चित्रण के लिये नहीं होता, यह तो होता है घटनाओं को बल देने के लिये और घटनाओं के महत्व को कम न होने देने के लिये। लेखक का विशेष बल घटना पर ही रहता है। गोपालराम जी 'गहमरी' के प्रायः सभी पात्र निर्भीक, साहसी, चतुर और कुटिल होते हैं। चोर डाकुओं को तो चतुर रखना ही होता है और जासूसों को उनसे भी अधिक चतुर बनाये बिना लेखक का काम नहीं चल सकता। लेखक ने मानव के बल, चातुरी और बुद्धिमत्ता को पूर्ण रूप से निभाया है; मानव में दानवी अथवा दैवी शक्तियों की झांकी देखने का प्रयत्न नहीं किया। देवकीनन्दन जी खत्री के

उपन्यासों की अपेक्षा यह उपन्यास हमारे अधिक निकट हैं और हमारे जीवन के साथ विशेष रूप से सम्बन्धित हैं। लेखक का प्रधान ध्येय घटना वैचित्र्य होते हुए भी उनकी रचनाओं में अनेकों स्थलों पर मानव की स्वाभाविक वृत्तियों का स्वाभाविक स्पष्टीकरण हो जाता है। तनिक-तनिक सी सूचनाओं पर बड़े-बड़े रहस्यों का किस प्रकार उद्घाटन हो जाता है इसका व्यापक विवेचन हमें गहमरी जी के उपन्यासों में मिलता है। चोरी, जारी, खून, डकैती इत्यादि के रहस्यों की जासूस लोग किस प्रकार खोज करते हैं और किस प्रकार साधारण बातों से असाधारण रहस्यों को मालूम कर लेते हैं बस यही इन उपन्यासों के प्रधान विषय हैं। इस प्रकार के विषयों पर व्यापक और विस्तृत प्रकाश डालने में गहमरी जी पूर्ण रूप से सफल हुए हैं और लोक-हित की भावना को लेते हुए आपका साहित्य केवल मनोरंजन की ही सामग्री बनकर नहीं रह गया है। उसकी उपयोगिता भी है। इस प्रकार हम उपन्यास क्षेत्र में गहमरी जी को निश्चित रूप से देवकीनन्दन खत्री जी से एक पग आगे बढ़ा हुआ पाते हैं।

गोपालराम जी गहमरी के उपन्यासों की भाषा उनके विषय के सर्वथा अनुकूल है। उनकी भाषा में वक्रता रहती है और

भाषा और शैली

चटपटेपन का अभाव नहीं पाया जाता। कहीं कहीं पर पूर्वी शब्दों का प्रयोग रहता है परन्तु वह खटकने वाला प्रयोग नहीं है और मुहावरों की तो आपकी शैली में ऐसी भरमार रहती है कि कहीं-कहीं पर उसमें बड़ी भारी बनावट खटकने वाली सी प्रतीत होने लगती है। आपकी लेखन शैली मनोरंजक है और विशेष रूप से जिस विषय को आप पकड़ते हैं उसका संचालन बहुत ही बुद्धिमत्ता से करते हैं। घटनाओं का तारतम्य इतना सुन्दर रहता है कि कहीं पर भी लड़ी टूटने की संभावना नहीं रहती। आपने अनेकों

उपन्यास लिखे हैं । किसी विशेष उपन्यास का विशेष महत्व नहीं है इसलिए सभी उपन्यास मनोरंजन की दृष्टि से एक ही से महत्वपूर्ण हैं। पाठक इनके जिस उपन्यास को भी उठाकर पढ़ेगा उसके पढ़ने में उसे बराबर ही आनन्द लाभ होगा और मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री भी मिलेगी। आपका लिखने का ढंग सब लेखकों से पृथक है और आपकी भाषा तथा शैली पर आपकी अपनी छाप रहती है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में जासूसी उपन्यासों के प्रवर्तक के रूप में हम गोपालराम जी गहमरी को मानते हैं और जिस दृष्टि-कोण को लेकर आप उपन्यास साहित्य में आये उस दृष्टिकोण को आपने सफलता पूर्वक निभाया है। पाठकों में उपन्यास पढ़ने की रुचि पैदा करने वाले लेखकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। यह ठीक है कि आपने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' जैसी कोई विख्यात रचना हिंदी साहित्य को प्रदान नहीं की परन्तु आपका संपूर्ण साहित्य हिंदी साहित्य के एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति है और निश्चित रूप से हिंदी उपन्यास-साहित्य में दूसरा क़दम हम इसे निसंकोच भाव से कह सकते हैं। गोपालराम जी गहमरी उपन्यास साहित्य को कल्पना की उड़ानों से हटाकर वास्तविकता के क्षेत्र में ले आये।

(३)

किशोरीलाल गोस्वामी

(१८६५—१९३२)

[जिस समय हिंदी में देवकी नन्दन खत्री ऐयारी-प्रधान और तिलस्मी उपन्यास लिख रहे थे उसी समय बँगला साहित्य में सामाजिक उपन्यासों की रचना होने लगी थी। अँगरेज़ी साहित्य का सर्वप्रथम प्रभाव बँगला साहित्य पर पड़ा और फिर हिंदी पर कुछ बँगला साहित्य में से छन कर और कुछ स्वतन्त्र रूप से हुआ। मौलिक रचनाओं के साथ ही साथ हिंदी अनुवादों की प्रणाली निरन्तर चलती चली आ रही थी। इन अनुवादों में बराबर घटना-प्रधानता का लोप और सामाजिक चित्रणों की प्रधानता दिखलाई दे रही थी। मानव-समाज और उसकी विभिन्न समस्याओं में पैठने का प्रयत्न बराबर उपन्यासकार कर रहे थे और कविता साहित्य की अपेक्षा वह उसमें सफल भी अधिक हो रहे थे। पाठकों की अभिरुचि उपन्यासों के प्रति बड़े वेग से बढ़ रही थी और इसी लिये उपन्यास क्षेत्र में साहित्य के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक प्रगति दिखलाई दे रही थी। स्वर्गीय पं० किशोरीलाल जी गोस्वामी ने सर्व प्रथम हिंदी में सामाजिक उपन्यासों की नींव डाली और बँगला साहित्य का अनुकरण करके सामाजिक समस्याओं को छूने का प्रयत्न किया। जहां तक संख्या और परिमाण का सम्बन्ध है वहाँ तक गोस्वामी जी ने बहुत कुछ लिखा है, और उतना बहुत कम लेखकों ने लिखा है, परन्तु उपन्यास में जो रोचकता और गम्भीरता आनी चाहिये वह आपके उपन्यासों में नहीं आने पाई। सन् १८९८ में आपने 'उपन्यास' नाम का एक पत्र भी प्रकाशित

किया था। आपने कुल ६५ छोटे बड़े उपन्यास लिखे हैं। आपने केवल उपन्यास लिखने के लिये ही लेखनी उठाई और अन्य विषयों पर कुछ नहीं लिखा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आपके विषय में लिखा है, "और लोगों ने भी उपन्यास लिखे हैं, पर वह वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते लिखते वह उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं पर घर करके बैठ गये। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिये चुन लिया और उसी में रम गये।"]

धार्मिक दृष्टिकोण और सामाजिक चेतना

गोस्वामी जी कट्टर हिन्दू पन्थी थे और धर्म रक्षा के लिये साहित्य को साधन मानते थे। हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की रक्षा का ध्यान उन्हें अपनी रचना लिखने में सर्वदा रहता था। वह अपने ग्रंथों में अपने पाठकों को ईसाई और मुसलमान धर्मों से सतर्क रहने का उपदेश करते हुए चलते हैं। उनके उपन्यासों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति अपने पूर्ण प्रसार के साथ मिलती है। स्थान-स्थान पर उपन्यास लिखते समय जहां उन्हें अवसर मिल जाता है वहां वह उपदेशों की झड़ी लगाने में नहीं चूकते। अपने समाज की बुराइयों से गोस्वामी जी पूर्ण रूप से भिज्ञ थे, परन्तु उन बुराइयों के प्रति विद्रोह करने की शक्ति का उनमें अभाव था। गोस्वामी जी की धर्म-भीरुता उन्हें सामाजिक अत्याचारों के सामने सिर झुकाने पर बाध्य कर देती थी। बंगाल में राजा राममोहन राय ने जिन समाज-सुधारों को लेकर जनता में जाग्रति का संचार किया, वहां के उपन्यासकारों ने उस जाग्रति की ज्वाला को अपने साहित्य में फूंक दिया और बंकिम, शरत तथा रवीन्द्र जैसे कलाकारों का वहां प्रादुर्भाव होने से बँगला के उपन्यास साहित्य को चार चाँद लग गये। परन्तु खेद का विषय है कि हिन्दी-प्रदेश में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा होने वाली सामाजिक क्रांति का 'गोस्वामी' जी और उनके साहित्य पर कोई

प्रभाव नहीं पड़ा। गोस्वामी जी के जीवन और साहित्य में प्रगति के नाम पर शून्य लिखा हुआ था और वह अपने साहित्य को रूढ़िवादी परम्पाराओं के प्रतिपादन का साधन बनाना चाहते थे। यही प्रधान कारण था कि श्री गोस्वामी जी का साहित्य जीवित साहित्य न बन कर केवल प्रणाली-बद्ध-साहित्य मात्र ही रह गया। उनके ६५ उपन्यास लिखने पर भी वह पाठकों में न तो कुछ क्रांति ही पैदा कर सके और न अपने लिये कोई विशेष आकर्षक स्थान ही बना सके। आपने अपने उपन्यासों में आर्य समाज के समाज-सुधारों का समर्थन नहीं किया और न ही सुधारवादिता की ओर कोई विशेष आकर्षण ही दिखलाया। बल्कि इसके विपरीत प्राचीन सनातन धर्म की श्रेष्ठता ही आर्य समाज पर प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया और उसे भी वह सफलता पूर्वक करने में असफल रहे।

गोस्वामी जी ने बहुत कुछ लिखा है और उपन्यासों की हिन्दी में भरमार कर दी है परन्तु मौलिकता के नाते आप अपना कोई विशेष स्थान बनाने में सर्वथा असफल रहे हैं। उपन्यास साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से उनके साहित्य को उच्च कोटि के साहित्य में नहीं रखा जा सकता। गोस्वामी जी ने जो कुछ भी लिखा है वह सच्ची लगन और साहित्यिक प्रेरणा को लेकर लिखा है परन्तु खेद का विषय है कि यह सब होने पर भी मौलिक सूझ-बूझ का अभाव होने के कारण उनकी रचनाओं में न तो कोई विशेष आकर्षण ही आने पाया है और न किसी विशेष सामाजिक समस्या का समाधान ही उनके उपन्यासों द्वारा हुआ है। उपन्यासों के बीच जो आपकी उपदेशात्मक प्रणाली कहीं-कहीं पर प्रस्फुटित हो उठती है वह तो आते ही पाठक को पन्ने उलट कर आगे भाग निकलने के लिये बाध्य कर देती है। गोस्वामी

गोस्वामी जी की उपन्यास कला

जी ने सामाजिक उपन्यास लिखने का प्रयास अवश्य किया था परन्तु वह समय की प्रचलित घटना-प्रधानता से अपना सम्बन्ध विच्छेद न कर सके और यही कारण है कि उनका चरित्र-चित्रण उनकी घटनाओं की वर्णन-शैली में आकर एक दम लुप्त सा हो गया है। इन उपन्यासों में सामाजिक आवश्यकता और सामाजिक मांगों के प्रति लेखक उदासीन ही बना रहा है और चरित्र-चित्रण में भी सफल नहीं हो पाया है। बँगला और अँगरेज़ी साहित्य के सामाजिक उपन्यासों की छाया इन सभी उपन्यासों में अवश्य दिखलाई देती है परन्तु वह छाया भी विशुद्ध और स्वच्छ रूप में न होकर विकृत रूप में वर्तमान है। बँगला और अँगरेज़ी साहित्य के उपन्यासों में मिलने वाली आत्मा का अनुकरण करना तो दूर की बात रही उनके ढांचों का भी सही रूप से अनुकरण गोस्वामी जी अपने उपन्यासों में नहीं कर पाये।

पंडित किशोरी लाल जी गोस्वामी की कुल ६५ रचनाओं में से निम्नलिखित रचनायें कुछ दृष्टिकोणों से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

गो स्वामी जी की रचनायें

१८८८ ई० में 'त्रिवेणी', १८८९ में 'कुसुम कुमारी', १८९० में 'आदर्श रमणी', १८९० में 'आदर्श बाला', १८९१ में 'सुखशर्वरी', रचनायें आपने लिखीं। इनके पश्चात् 'चपला', 'लखनऊ की कब्र', 'तारा', 'रज़िया बेग़म', 'मल्लिका देवी', 'आदर्श सती', 'तरुण तपस्विनी', 'याकूती तख्ती', 'तिलस्मी शीशमहल', 'मस्तानी', 'सौतिया डाह', 'प्रेममयी', 'गुलबहार', 'इन्दुमती', 'लावण्यमयी', 'प्रणयिनी परिचय', 'ज़िन्दे की लाश', 'चन्द्रावती', 'हीराबाई' इत्यादि रचनायें उल्लेखनीय हैं।

गोस्वामी जी ने इस प्रकार सामाजिक, ऐतिहासिक और तिलस्म तथा ऐयारी सभी प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। 'त्रिवेणी' उपन्यास में प्राचीन सनातन-धर्म की महत्ता का ही गोस्वामी जी

ने प्रतिपादन किया है। इस उपन्यास के १६ वर्षीय वैश्य-नायक प्रेमदास का विवाह १३ वर्षीय कन्या त्रिवेणी से हो जाता है। प्रेमदास ज़मींदारी का कार्य भार मुनीमजी पर छोड़कर सपरिवार तीर्थ-यात्रा को चला जाता है। यात्रा पैदल और नावों पर करता है। काशी जाते समय उसकी नौका टूट जाने पर वह सब सम्बंधियों से बिछुड़ जाता है। बचकर ग़ाज़ीपुर वह पहुँचा परन्तु उसकी स्त्री का कुछ खोज न मिल सका। इस प्रकार पत्नी-विरह में वह सब कुछ त्याग कर सन्यासी बन गया। उसने कुम्भ के अवसर पर प्रयाग संगम पर धूनी रमाई। संगम पर ही उसने अपनी स्त्री को साधु-वेश में अपने ससुर के साथ स्नान करते हुए देखा और तुरन्त ही पहिचान भी लिया। इतने दिन पश्चात् इस भेंट से अपार हर्ष हुआ। इस उपन्यास के पात्र लेखक के हाथ की कठपुतली मात्र से प्रतीत होते हैं। उनमें मानवीय सजीवता का अभाव है। कथा बिलकुल प्रवाह विहीन है और विषय तथा भाषा दोनों ही विचारों से इसमें रोचकता नहीं आने पाई। 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुम कुमारी' में गोस्वामी जी की कल्पना-शक्ति का सुन्दर आभास मिलता है। इसमें बहुत सी घटनाओं का बहुत आकर्षक-ढङ्ग से लेखक ने चित्रण किया है। कुसुम कुमारी तीन वर्ष की अवस्था में देवदासी बनाकर पंडे द्वारा किसी वेश्या को बेच दी जाती है। कार्तिक-पूर्णिमा के मेले में नाव टूटने पर कुसुम कुमारी बह निकलती है और एक वसंत कुमार नामक युवक उसे पानी से निकाल कर उसकी प्राण-रक्षा करता है। वह छुप कर अपने जन्म-स्थान आगरा में रहती है और वहीं पर उसकी छोटी बहिन गुलाब का विवाह वसंत कुमार से होता है। विवाह होने पर कुसुम कुमारी की छोटी बहिन 'देवदासी' प्रथा के उन्मूलन की कसम लेती है। एक दिन 'कुसुम कुमारी' गुलाब के व्यंग्य से दुखी होकर आत्महत्या करने का प्रयत्न करती है परन्तु गुलाब अपनी

बहिन को पहिचान कर उसे ऐसा करने से रोक देती है और इस प्रकार दोनों का प्रसन्नता पूर्वक मिलन हो जाता है। गोस्वामी जी के इस उपन्यास में देवदासी-प्रथा की सामाजिक कुरीति के विरुद्ध लेखक ने कुछ लिखने का प्रयत्न अवश्य किया है परन्तु वह कुछ अधिक प्रभावशाली नहीं बन पाया। सामाजिक कुरीति का थोड़ा सा यथार्थवादी चित्रण इस उपन्यास में अवश्य मिलता है। निर्दोष होने पर भी वेश्या के यहां रहने के कारण बेचारी कुसुमकुमारी को समाज से मुख छिपा कर जीवन व्यतीत करना होता है। वसंत को प्रेम करने पर भी वह सामाजिक प्रथाओं के अभिशाप से मुक्त होने के लिये उसका दूसरा विवाह कराती है। वसंत और कुसुम दोनों ही लेखक के दब्बू क़िस्म के पात्र हैं जिनमें सामाजिक क्रांति करने की शक्ति वर्तमान नहीं है। कुसुम के जीवन में त्याग और तपस्या का सुन्दर समन्वय उपन्यासकार ने उपस्थित किया है। गो स्वामी जी का यह उपन्यास उनकी अन्य रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हुआ है।

आदर्श रमणी में नरेन्द्रसिंह नायक और कुसुम कुमारी नायिका है। लवंगलता इस उपन्यास का उत्तरार्ध है जिसका लेखक ने बहुत सुन्दर चित्रण किया है। गोस्वामी जी ने

'आदर्श रमणी' इस उपन्यास की रचना भारतीय ललनाओं का और 'लवंगलता' संयम और साहसपूर्ण जीवन चित्रित करने के लिये की है। अपने दृष्टिकोण से लेखक ने कुसुम कुमारी और लवंगलता के रूप में आदर्श भारतीय नारियों की प्रतिमायें उपस्थित की हैं। इन नारियों ने अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर अपने पतिव्रत-धर्म और भारतीय-गौरव की रक्षा की है। जाति और मान-मर्यादा की रक्षा के लिये इन्होंने अपने प्राणों से खिलवाड़ की है। इस उपन्यास में मुसलमानों की अपेक्षा अँगरेज़ों की लेखक ने बड़ाई की है। अस्वाभाविक घटनाओं का ऐसा

जमाव इस पुस्तक में गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया है कि तिलस्म और ऐयारी के उपन्यासों को भी मात दे दी है। चरित्र-चित्रण का इन उपन्यासों में नितांत अभाव है और रोमांचकारी चित्रण मात्र करना ही लेखक ने अपना ध्येय बनाया है। तिलस्मी घर और गोल तिलस्मी कमरों का निर्माण करके एक बार गोस्वामी जी फिर अपने पूर्वज देवकीनंदन खत्री जी के लोक में पहुँच जाते हैं और प्राचीनता का पल्ला पकड़ कर ही अपने उपन्यास को पाठकों के लिये प्रिय बनाने का प्रयत्न करते हैं। समस्याओं के प्रगगिवादी सुझावों में भी कुछ आकर्षण हो सकता है इस रहस्य से गोस्वामी जी नितांत अनभिज्ञ थे। इन दोनों उपन्यासों की ही भांति १८६० ई० में आपने आश्चर्य प्रधान-उपन्यास, जिनमें घटनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, 'प्रणयिनी परिणय' की रचना की। उपन्यास सुखांत है परन्तु उसमें न तो चरित्र-चित्रण ही सजीव है और न किसी सामाजिक समस्या को ही छुआ गया है।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश करके कुछ ऐसी रचनायें लिखने का प्रयत्न किया है कि जो समस्यात्मक हों और समाज के विविध दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाल सकें। परम्परा वादी रूढ़ियों को तोड़ कर नवीन मार्ग निर्धारित करने का भी आपने प्रयत्न किया परन्तु उन रुढ़ियों को तोड़ने में आप सफल नहीं हो सके। गोस्वामी जी में साहस का नितांत अभाव था और प्राचीनता के प्रति एक ऐसा मोह था जो उनकी प्रत्येक प्रगति में बाधा उपस्थित करने में नहीं चूकता था। फिर भी आपने कल्पना की कोरी उड़ानें मात्र भरने के लिए ही साहित्यक क्षेत्र में पदार्पण नहीं किया, साहित्य को सार्थक बनाने का भी प्रयत्न किया है। साहित्य-सुलभ भावना के साथ-साथ बौद्धिक विकास के क्षेत्र में भी आपने पदार्पण किया और उपन्यासों के पत्रों को घटनाओं पर प्रधानता देने का प्रयत्न किया।

गोस्वामी जी के उपन्यास नायक और नायिकाओं के चक्कर से बाहर निकल कर झांकने में असमर्थ रहे और जन-वाणी को सुनने की गोस्वामी जी में क्षमता ही नहीं थी। यही प्रधान कारण रहा कि आपकी रचनायें सामाजिक होने पर भी पाठकों के लिए विशेष रुचिकर न बन सकीं। नर और नारी का प्रेम एक स्वाभाविक प्रेरणा है और यह कभी किसी युग में भी आलोचना का विषय नहीं बन सकेगी, परन्तु जब प्रेम के नाम पर नग्न वासना का चित्रण होने लगे तो वह भी अखरने वाली वस्तु बन जायेगी और पाठकों पर भी उसका प्रभाव स्वस्थ न होकर अस्वस्थ ही पड़ेगा। गोस्वामी जी के उपन्यासों में नायक नायिकाओं का जो प्रेमालाप चलता है वह उद्देश्य विहीन है और नग्न वासना का द्योतक है। उससे किसी उत्साह के लिये, किसी प्रगति के लिए, किसी क्रांति के लिये, किसी सुधार के लिये प्रेरणा नहीं मिलती। गोस्वामी जी के उपन्यासों के सभी नायक कामुक होते हैं और नायिकायें सुन्दरी। सभी नायिकायें सुन्दर ही हों यह कुछ आवश्यक प्रतीत नहीं होता परन्तु गोस्वामी जी को तो इसके बिना नायक के लिये और कोई आकर्षण का कारण ही नहीं दिखलाई पड़ता। गोस्वामी जी केवल सुन्दर हाड-मांस तक ही मानव को सीमित रख पाये हैं, मानव के भाव विकास को चित्रित करने में उनकी लेखनी सफल नहीं हुई। भारतीय नारी के चिरसंचित गांभीर्य का गोस्वामी जी की नायिकाओं में से सर्वथा लोप हो गया है। नायिका का मुख देख लेने से नायकों के हृदयों में प्रेम-पीर जागृत हो उठती है और वह व्याकुल होकर सुन्दरी के लिये तिल मिलाने लगते हैं। न नायिकाओं में सलज्जता और गम्भीरता है और न नायकों में सौम्यता और गाम्भीर्य। नायक और नायिकाओं का प्रेम यौवन की प्रचण्ड लालसा मात्र सा ही प्रतीत होता है।

सामाजिक उपन्यासों में अश्लील चित्रण होने पर भी यथार्थवादिता को कहीं-कहीं पर लेखक ने अच्छा निभाया है और यही कारण है कि उन स्थलों पर उनके सामाजिक चित्रण कुछ सजीव हो उठे हैं। देश-काल का भी लेखक ने सामाजिक उपन्यासों में ध्यान रखा है। कुछ स्थलों पर कथनोपकथन भी अच्छे हैं परन्तु कुछ स्थलों पर वह इतने अस्वाभाविक हो गये हैं कि पाठक को रूखे और खटकने वाले से प्रतीत होने लगते हैं। गोस्वामी जी की वर्णन-शैली साधारणतया सुन्दर ही है परन्तु कहीं-कहीं पर पाठक उससे इतना ऊब उठता है कि उसे अरुचि उत्पन्न होने लगती है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में पात्रों के गुण और अवगुणों का स्पष्टीकरण नाटकीय ढङ्ग से न होकर प्रवचन और उपदेश के रूप में होता है जो पाठक को रुचिकर न होकर अखरने लगता है और इससे रचना की सरल स्वाभाविकता को गहरी ठेस लगती है। यह सब होने पर भी गोस्वामी जी हिन्दी के सर्व-प्रथम सामाजिक उपन्यासकार हैं जिन्होंने सामाजिक समस्याओं को छुआ और पाठकों का ध्यान समाज की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया। दुर्भाग्य वश गोस्वामी जी में बुराइयों और अंध-विश्वासों के ख़िलाफ़ विद्रोहात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का साहस न हुआ, नहीं तो वह अपनी कृतियों को अमर कर जाने के साथ ही साथ हिन्दी के उपन्यास-साहित्य को उस धरातल पर रख जाते जहाँ उनके पश्चात् मुं० प्रेमचन्द को आकर रखने का प्रयत्न करना पड़ा।

गोस्वामी जी की रचना-शैली

गोस्वामी जी सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में अधिक असफल रहे हैं। आपके ऐतिहासिक-उपन्यासों को पढ़ने से आपके ऐतिहासिक-ज्ञान की अपूर्णता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिल जाता है। जिस काल को गोस्वामीजी ने अपने उपन्यासों में लिया है उस काल के रहन-सहन, वेश-भूषा

गोस्वामी जी की ऐतिहासिक रचनायें

और आचार-व्यवहार का चित्रण करने में वह सर्वथा असफल रहे हैं। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में गोस्वामी जी ने विशेष रूप से मुसलमान-काल को ही लिया है परन्तु उस काल का चित्रण केवल कल्पना के ही आधार पर किया गया है। 'अकबर' के समय में तम्बाकू की खोज न होने पर लेखक का उसके सामने पेचवानी (हुक्का) प्रस्तुत कर देना एक व्यंग्य नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ? आपके 'तारा' उपन्यास में ऐतिहासिक पात्रों की दुर्दशा देख कर तो इतिहासकार रोये बिना नहीं रह सकता। शाहजहाँ जैसी प्रेम-मूर्ति के राजमहल को जब हम वासना की रङ्गशाला के रूप में देखते हैं तो वहां हृदय-हीनता भी कराह उठती है और हृदय की व्यापक प्रेम-साधना तो आत्म-हत्या करने के लिये बाध्य हो जाती है। राजकुमार दारा जैसे उज्ज्वल चरित्र वाले व्यक्ति पर गोस्वामी जी का स्याही पोतना कहां तक न्याय-संगत और कला के क्षेत्र में क्षम्य है यह हम नहीं समझ सकते। यह तो रही मुसलमान पात्रों की बात। अब तनिक 'तारा' के चरित्र पर ध्यान दीजिये कि वह किस प्रकार छुप-छुप कर अपने मुसलमान प्रेमियों को परेशान करती है और उन्हें रिझाती है। 'तारा' के चरित्र में भारतीयता का पूर्ण रूपसे अभाव है और भारतीय नारी संस्कृति की तो उसमें छाया भी प्रतीत नहीं होती। 'तारा' का जीवन तिलस्म और ऐयारी से परिपूर्ण है जिसमें नारी-सुलभ न तो लज्जा ही है और न सौम्यता ही। गाम्भीर्य तो उसमें लेश मात्र भी दिखलाई नहीं देता। यदि 'तारा' के चरित्र पर ध्यान दें तो इस उपन्यास को हम ऐतिहासिक न कहकर ऐयारी का उपन्यास भी कह सकते हैं। उपन्यास के सभी पात्र लेखक के संकेत पर देश-और काल के बंधन तोड़ कर मुक्त हो जाते हैं और मन की मौजों के साथ कल्पना के क्षेत्र में स्वच्छंद रूप से विहार करने लगते हैं।

इस उपन्यास की रचना करने में गोस्वामी जी ने निष्पक्ष भाव से काम नहीं लिया है और न ही सहृदयता और उदारता का परिचय दिया है। मुसलमान पात्रों के साथ तो आपने ऐसा अत्याचार किया है कि अपनी उस सनक में उन्होंने उपन्यास के ही समस्त महत्व को नष्ट कर दिया है। एक कलाकार के पास जो निष्पक्ष-उदार मनोवृत्ति होनी चाहिए वह गोस्वामी जी में नहीं पाई जाती। यह लेखक का संकुचित-दृष्टिकोण है जिसके चक्कर में फँसकर कोई भी कलाकार कभी कला की उच्चतम सीढ़ी पर नहीं चढ़ सकता। इस उपन्यास में आपने कथनोपकथनों में पात्रानुकूल भाषा प्रयोग करने का भी प्रयास किया है और मुसलमान पात्रों के मुख से उर्दू भाषा का प्रयोग कराया है। इस प्रकार उपन्यासों में विशुद्ध हिन्दी और विशुद्ध उर्दू आ जाने से भाषा एक अजीब चूं-चूं का मुरब्बा बन गई है। उसमें कोई आकर्षण नहीं रह गया है।

इस प्रकार हमने देखा कि किशोरी लाल जी गोस्वामी ने ऐसे काल में जन्म लिया जब साहित्यिक प्रगति उन्हें स्वयं आगे को

संक्षिप्त

घसीटने का प्रयत्न कर रही थी परन्तु वह अपने रूढि वादी विचारों में फँसकर केवल उतने ही आगे बढ़ना चाहते थे जिससे कि उनकी प्राचीनता को ठेस न लग सके। उनका उपन्यास लिखने का शौक उन्हें उपन्यास लिखने पर बाध्य करता था परन्तु वह सामाजिक बंधनों से इतने भयभीत थे कि उनके विरुद्ध आवाज़ उठाते उन्हें भय लगता था। उन्हें जो कुछ भी प्रेरणा मिली थी वह बँगला साहित्य से, अंगरेज़ी साहित्य से नहीं। यदि वह भी बँगला साहित्यिकों, की भांति अँगरेज़ी के विद्वान बनकर एक बार योरोप हो आये होते तो निश्चित रूप से उनकी रचनाओं में जान आ जाती और वह समाज तथा साहित्य को एक महत्वपूर्ण थाती सौंप जाते। उनका दृष्टिकोण व्यापक हो जाता, संसार की विविध प्रगतियों

के सम्पर्क में आकर उनकी विचार शक्ति का विकास होता, रूढ़िवादी विचारधारा से बाहर निकल कर स्वच्छंद वायुमंडल में श्वास लेने का उन्हें अवसर मिलता और फिर जो कुछ भी वह लिखते उसमें नव-स्फूर्ति का संदेश किसी न किसी रूप में अवश्य ही वर्तमान रहता। फिर भी हिन्दी उपन्यासों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण उपस्थित करने के कारण गोस्वामी जी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है और उन्होंने हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक नवीन धारा प्रदान की है। इसे हम हिन्दी उपन्यास साहित्य का तृतीय चरण कह सकते हैं। उपन्यास साहित्य तिलस्म और ऐयारी से जासूसी क्षेत्र में आया और जासूसी क्षेत्र से निकलकर सामाजिक क्षेत्र में उसने पदार्पण किया। यह सच है कि जो सामाजिक दृष्टिकोण हिन्दी उपन्यास-साहित्य को किशोरीलाल जी गोस्वामी ने प्रदान किया वह बहुत पिछड़ा हुआ था परन्तु यहां इतना अवश्य मानना पड़ता है कि गोस्वामी जी इस साहित्य को मानव-जीवन के अधिक निकट लाने में सफल हुए और हिन्दी उपन्यास साहित्य को गोस्वामी जी की यही सबसे बड़ी देन है।

(४)

प्रेमचन्द

(१८८०—१९३३)

[देवकी नन्दन खत्री, गोपाल राम गहमरी और किशोरी लाल जी गोस्वामी के उपन्यास साहित्य का अध्ययन करते समय हमने हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्रमिक-विकास पर प्रकाश डाला है। तिलस्म और ऐयारी के क्षेत्र से निकल कर किस प्रकार उपन्यास-साहित्य का जासूसी क्षेत्र में आकर मानवीकरण हुआ और फिर मानव की घटना-प्रधानता से किस प्रकार वह साहित्य भावना और बुद्धि के क्षेत्र में उतरा, इसके प्रारम्भिक विकास पर हम संक्षिप्त रूप से दृष्टि डाल चुके हैं। कोरी कल्पना का आश्रय छोड़कर किस प्रकार उपन्यास साहित्य आदर्श की ओर बढ़ा और फिर आदर्श के साथ यथार्थवाद का कैसे विकास हुआ ? आदर्श और यथार्थवाद में काफी दिन तक झंझटबाज़ी चलती रही। आदर्श के पोषक यथार्थवाद को पीछे छोड़कर उपदेशात्मक प्रवृत्ति के साथ आकाश-कुसुम खिलाकर साहित्य की वाटिका को पुष्पित करना चाहते थे और यथार्थवादी समाज का नग्न रूप वर्णित करके घृणा के प्रचार द्वारा समाज के सम्मुख उसके वह नग्न चित्र उपस्थित करने पर तुले हुए थे कि जिनसे ऊब कर समाज सुधार की ओर अग्रसर हो। दोनों ही प्रकार के विचारक अपनी अपनी साहित्यक प्रेरणा द्वारा सामाजिक साहित्य का सृजन करना चाहते थे। यथार्थवादी लेखक और विचारक आदर्शवादियों को भीरु कहकर उनपर यह दोषारोपण करते थे कि वह समाज की कुरीतियों को समाज के सम्मुख रखे बिना कभी भी समाज को सही मार्ग प्रदर्शित नहीं

कर सकते; परन्तु आदर्शवादी लेखक शांति के साथ विचार करने के पश्चात् अपने को भीरु मानने पर सहमत नहीं थे और उनका मत था कि इस प्रकार यथार्थवादिता का ढोल बजा-बजा कर जो लेखक समाज के नग्न चित्र साहित्य में उपस्थित कर रहे हैं इनमें समाज-सुधार की भावना तनिक भी नहीं है। यह लोग स्वयं वासना-ग्रस्त हैं और वासना की पूर्ति के लिये ही अपनी मनोवृत्तियों का प्रकाशन मात्र कर रहे हैं। इस प्रकार के नग्न चित्र उपस्थित करके कभी भी इस समाज का कल्याण हो ही नहीं सकता, बल्कि अधकचरे मस्तिष्क पर इसका सर्वथा उलटा ही प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार का साहित्य समाज के लिये कलंक है, पथ भ्रष्ट करने वाला है और समाज की भावी आशाओं पर तुषारापात करने वाला होगा। आदर्श और यथार्थवाद के इसी साहित्यिक-संघर्ष-काल में उपन्यास सम्राट मुं० प्रेमचन्द जी का हिन्दी साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। यहां हम यह कहना नहीं भूल सकते कि मुं० प्रेमचन्द जी ने अपना साहित्य सृजन प्रारम्भ में उर्दू से शुरु किया था परन्तु शीघ्र ही आपने हिन्दी साहित्य को अपना लिया और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की छत्र-छाया में एक ऐसे कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया कि जिसकी देश, काल, समाज, राष्ट्र और भारतीय मानव को उस समय आवश्यकता थी]

समाज और साहित्य

साहित्य सर्वदा ही समाज का प्रतिविम्ब रहा है। यहां तक कि पौराणिक आख्यायिकाओं में भी उस काल के चित्र अंकित हैं जिस काल में उनका स्रजन हुआ है। प्राचीन साहित्य में अलंकारिकता का आधिक्य है और यही कारण है कि उस में कल्पना का विशेष स्थान होने के कारण कभी-कभी वह साहित्य कपोल-कल्पित सा भी मालूम देने लगता है। ज्यों-ज्यों मानव, समाज और साहित्य आगे बढ़ते गये त्यों त्यों उसमें अलंकारिकता, कल्पना और उड़ानों के स्थान पर यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रबल होता गया। साहित्य सर्वदा वर्तमान का चित्र

उपस्थित करता है और भविष्य के विषय में दूरदर्शी लेखक अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हैं। समाज के इतिहास पर भी जब हम दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि वह भी सर्वदा अपनी प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ता हुआ ही प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ है। प्रतिभाशाली लेखक सर्वदा इन रूढ़ियों की अच्छाइयों और बुराइयों का विश्लेषण करने में सफल रहे हैं। जब साहित्य रुढ़िवद्ध हो जाता है और समाज उसे छोड़ कर अपने स्वाभाविक प्रवाह में आगे बढ़ जाता है तो साहित्य भी किसी न किसी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार का आश्रय लेकर इस विषमता को छिन्न-भिन्न कर डालता है और अपने साहित्य की रूप-रेखा को जन-रुचि से मिलाकर एक समन्वय स्थापित कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि समाज का इतिहास ही साहित्य का इतिहास है और साहित्य की परम्परा ही मानव का विकास है, समाज की प्रगति है। प्राचीन लेखकों की कृतियों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्र, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, भूषण और बिहारी सब समाज की आवश्यकताओं की देन मात्र ही थे और समाज का निर्माण करने वाला भी उन्हें हम निस्सन्देह रूप से मान सकते हैं।

अँगरेज़ी शासन-काल में समाज की दशा और उसमें भारतेन्दु-युग द्वारा प्रस्तुत किये गये साहित्य ने देश-भक्ति की भावना को पाठकों में जन्म दिया। इस साहित्य में देश-भक्ति की भावना अवश्य थी परन्तु देश-भक्ति के साथ-साथ राज-भक्ति के प्रभाव से वह साहित्य मुक्त नहीं हुआ था। सामाजिक दुर्दशा की ओर इस साहित्य का ध्यान विशेष रूप से गया था। देश और समाज प्रगति की ओर अग्रसर थे। भारत में सामाजिक और राजनीतिक क्रांति जन्म ले रही थी। समाज और राष्ट्र के प्रत्येक अंग में जग्रति का संचार हो रहा

था। आर्यसमाज और राष्ट्रीय-कांग्रेस ने देश में एक क्रांतिकारी वातावरण उपस्थित कर दिया था। प्राचीन रुढ़िवाद का विशाल भवन जर्जरित होकर धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न होता चला जा रहा था। राज-भक्ति के स्थान पर राष्ट्र-भक्ति की भावना का उदय हो रहा था। संकुचित विचारधारा विदेशी प्रभाव की टक्कर खाकर थरथरा उठी थी। ऐसी परिस्थिति में ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जो भारतीय-संस्कृति की आत्मा को संरक्षण प्रदान करते हुए, समय की नवीनतम प्रगतियों को अपना कर, जनता की वाणी अपने साहित्य में निहित कर सके। आज के लेखक का उत्तरदायित्व कुछ कम नहीं था। उसके सामने समाज के निर्माण का प्रश्न था। जन साधारण की आत्मा को अपने साहित्य का प्राण बनाने की आवश्यकता थी। मुं० प्रेम चन्द ने यह महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व अपने सशक्त कन्धों पर ले लिया और उस विचारधारा को प्रस्फुटित करने के लिये उपन्यास साहित्य को अपना माध्यम बनाया। प्रेमचन्द ने श्रृङ्गार की परम्पराओं को पीछे छोड़ दिया। जनता के सुख-दुख की वाणी को अपने साहित्य की मूल-आत्मा मानकर समाज के पीडित वर्ग का चित्रण करके वह दृष्टिकोण पाठकों के सम्मुख रखा कि जिससे प्राचीन रुढ़ियां शिथिल होती चली जायें। भारत के एकतंत्रवादी युगों में साहित्य का निर्माण राजदर्बारों में हुआ था। एक काल वह भी रहा था जब राजाओं की विरुदावलियों को ही साहित्य कहा गया, परन्तु उस काल में जन-भावना का उदय नहीं हुआ था। जन-भावना का उदय सर्वप्रथम इङ्गलैन्ड में हुआ और वहां की जनता ने राजा से अपने अधिकार छीन कर प्रजातंत्र की स्थापना की। परन्तु यह प्रजातंत्र की प्रतिपादक अंग्रेरज़-जाति भी इङ्गलैन्ड की ही जनता को जन-अधिकारों का अधिकारी समझती थी। भारतवर्ष में उनकी वही तानाशाही-नीति साम्राज्यवाद के रूप में चल रही

थी। भारत के प्रसिद्ध नेता महात्मा गांधी ने उनकी शासन-नीति का खंडन करके विरोध की एक ऐसी ज्वाला भारत की जनता में प्रज्वलित की कि जिससे भारत की जनता एक दम जागरूक होकर अपने अधिकारों के लिये संघर्षोन्मुख हो उठी। यह संघर्ष अहिंसात्मक था और इस अहिंसात्मक संघर्ष की रुप-रेखा को लेकर सामाजिक सुधारों के साथ-साथ मुं० प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास-साहित्य का निर्माण किया। मुं० प्रेममचन्द ने अपने उपन्यास साहित्य में आर्त्त श्रमजीवी-वर्ग को अपनाया, निरंकुश धनपति-वर्ग को नहीं। उन्होंने पूंजीपति-वर्ग का समर्थन न करके भारत की हाहाकार करती हुई पीड़ित जाति का समर्थन किया, सिसकते हुए नर कंकालों का चित्रांकन किया। रूस में जिस साहित्य को 'प्रोलितेरियत' साहित्य कहा जाता है वह प्रेमचन्द का भारतीय साहित्य था, आर्त्त मानवता का चित्रांकन। प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय-दलित-मानव के संघर्षों का वह इतिहास है जिसे एक दिन वह पिछड़ा हुआ मानव जब सुसंस्कृत होकर प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा तो वेद, बाइबिल, इंजील और कुरान की भांति अपने धर्म ग्रंथ मान कर अध्ययन करेगा।

रूस में ज़ार के शासनकाल ने दलित मानव को जिन परिस्थितियों में रख दिया था उसका चित्रण गोर्की, टाल्सटाय और डास्टायवस्की ने किया है। प्रेमचन्द के युग में भारत की बिलकुल वही दशा थी जो गोर्की के समय में रूस की थी। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमताओं के कारण देश और देश की जनता का दम घुट रहा था। समस्त संसार का शोषित और दलित वर्ग दांत किट-किटा कर शोषण करने वाले वर्ग को चवा डालने के लिये उद्यत हो चुका था। यह भावना आज न केवल रूस में वरन विश्व भर में व्याप्त हो चुकी थी और समस्त विश्व की भांति भारत में भी यह भावना फैलने लगी थी।

मु० प्रेमचन्द ने भारत में अपने समय का प्रतिनिधित्व किया। उनकी पैनी दृष्टि साधारण से साधारण घरों की साधारण समस्याओं से लेकर जटिल समस्याओं के केन्द्रों तक पहुँच गई थी। पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय तीनों प्रकार की अच्छाइयों और बुराइयों से परिचय प्राप्त करके आपने अपने उपन्यासों का निर्माण किया है और यही कारण है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में किसी पात्र विशेष का निर्माण नहीं किया बल्कि समाज का दिग्दर्शन कराने के लिये ही अनेकों पात्रों और उनके विविध पहलुओं को लिया है। समाज के शहतीर में घुन की तरह लगने वाली बुराइयों की दीमक को आपने छांट-छांट कर समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द का संपूर्ण साहित्य सहानुभूति और संवेदना की भित्तियों पर खड़ा हुआ है और यही कारण है कि उन्होंने जिस व्यक्ति अथवा समाज का भी चित्रण करने के लिये लेखनी उठाई है उसमें प्राण फूंक दिये हैं, जीवन डाल दिया है।

प्रेमचन्द ने भारतीय मानव को पहिचाना है और मानवता के सिद्धांतों की रक्षा के लिये अपने साहित्य के अस्त्रों का प्रयोग किया है। उनका मानव पर अधिक विश्वास था और यही कारण था कि वह जीवन भर शोषित मानव के ऊपर अत्याचार करने वाले के विरुद्ध अपनी संपूर्ण शक्तियों द्वारा संघर्ष करते रहे हैं।

मानवता और प्रेमचन्द

किसान, भिखमंगे, विधवा, वेश्या, मज़दूर सभी के साथ लेखक ने पूर्ण सहानुभूति के साथ काम लिया है। रूढ़ियों के बोझ से दबी हुई चेतना-विहीन समाज के प्रति भी लेखक ने क्रोध का नहीं करुणा का प्रयोग किया है। प्रेमचन्द का संपूर्ण जीवन कठिनाई से संघर्ष करते हुए व्यतीत हुआ था और यही कारण था कि कठिनाई-ग्रस्त मानव की मजबूरियां कभी भी उनके नेत्रों

के सामने से ओझल नहीं हो सकीं। उनकी कठिनाइयों के प्रति वह सर्वदा सजग रहे हैं।

प्रेमचन्द का सर्वप्रथम उपन्यास 'सेवासदन' है। यह १६१८ में लिखा गया था। सेवासदन से पूर्व भी आपने 'प्रेमा' नामक एक छोटा सा उपन्यास लिखा था परन्तु उसे हम हिंदी का उपन्यास नहीं मानते क्योंकि वह उनके एक उर्दू उपन्यास का अनुवाद मात्र है। 'प्रेमा' में विधवा विवाह की समस्या को लेकर लेखक ने रचना की है। 'प्रेमा' से प्रेमचन्द के समाज-सुधारक उद्देश्य का भान अवश्य होता है और उनका यह उद्देश्य और भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है जब वह 'सेवासदन' को लेकर हिंदी के क्षेत्र में कूद पड़ते हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यास

दहेज की प्रथा के विरुद्ध इस उपन्यास में एक सजीव विद्रोहात्मक विचार की पुष्टि की गई है। दारोग़ा कृष्णचन्द्र की क्षणिक दुर्बलता उनके जीवन को क्या बना देती है इसका सुन्दर चित्रण इसमें प्रस्तुत है। लाला कृष्णचन्द्र दिखावे के लिये, सामाजिक रूढ़ियों के प्रतिपादन के लिये धर्म के झूठे ढकोसले-बाज़ी के शिकार बनकर पाप की कमाई करने पर उतारु हो जाते हैं। जिस समाज ने जवान लड़की को घर में रखना दोष बतलाया, जिस धर्म ने इसकी निंदा की, उसी धर्म और समाज ने लाला कृष्णचन्द्र को धूलि में मिला दिया। समाज और धर्म ने धर्म-मार्ग तो कृष्णचन्द्र को अवश्य सुझाया परन्तु वह सर्वनाश के गर्त में गिरने से बचने का कोई मार्ग नहीं सुझा सका। कृष्णचन्द्र कारावास चले गये, स्त्री दर-दर भटकती फिरी, कन्या कुपात्र के हाथों पड़कर विपथ-गामिनी हो गई इत्यादि। समाज की एक कुप्रथा 'दहेज़' के परिणाम स्वरूप यह सारा का सारा परिवार नष्टप्राय हो गया। 'सेवासदन' लड़के बेचने वाले कुप्रथा-गामी समाज के कलंकों के मुख पर वह करारा जूता है कि

'सेवासदन'

जिसके लगने पर उसका मस्तिष्क ठीक हो जाना चाहिये था, परन्तु कहाँ ? भारत का पिछड़ा हुआ समाज तो क़ानून को मानने के लिये ही बाध्य हो सकता है 'सेवासदन' के प्रस्ताव को नहीं। सभ्यता और समाज के पुराने ठेकेदारों के मुख पर इससे भी करारा जूता तब लगता है जब 'सुमन' अपने पति द्वारा अपमानित होकर वेश्यालय में जाकर बैठ जाती है। अनमेल विवाह और पारिवारिक-कलह को लेकर क्या-क्या कुपरिणाम निकल सकते हैं इसका प्रेमचन्द्र जी ने अपने इस उपन्यास में सजीव चित्रण किया है। गजाधर द्वारा घर से निकाली हुई जिस 'सुमन' को पं० पद्मसिंह शर्मा अपने घर में आश्रय नहीं दे सके उसे भोली रंडी अपनाकर अपने कोठे पर आश्रय देती है। समाज की गिरावट यहाँ पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। वेश्या बनने पर सरदार पद्मसिंह जी का रसिक भतीजा जब सुमन पर लट्टू हो जाता है तो विट्ठलदास जी सुधारक बनकर 'सुमन' के पास उसके उद्धार के लिये जाते हैं; परंतु 'सुमन' पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। वह समाज के खोखले-पन पर हँसकर कह देती है, "मेरा यहीं पर उचित आदर हो रहा है। पहिले भी एक बार मैं ठाकुरद्वारे में गई थी, तो द्वार पर ही तमाम रात खड़ी-खड़ी पानी में भीगती रही; परन्तु उसी ठाकुरद्वारे में कल मेरा जाना हुआ तो ऐसा प्रतीत होता था कि मानो मेरे चरणों की रज से वह देवालय पवित्र हो रहा था।" सामाजिक रूढ़ियों से कितना ज़बरदस्त व्यंग्य लेखक ने किया है। 'सेवासदन' में वेश्या बनाकर 'सुमन' को ले जाने पर भी समस्त उपन्यास को पढ़ने पर कहीं भी वासना का उदय नहीं होता। चरित्र-चित्रण में यथार्थवाद की कमी नहीं है परन्तु यह यथार्थवाद आदर्शोन्मुख होजाने के कारण वासना का द्योतक नहीं होता। प्रेमचन्द जी ने 'सेवासदन' में यदि वेश्या का चित्रण भी किया है तो वह इसलिये नहीं कि वह उस वेश्या का वासनामय यथार्थवादी-चित्रण करना चाहते थे वरन् इसलिये कि उन्हें समाज के

सम्मुख वह परिस्थितियाँ प्रस्तुत करनी थीं कि जिनके कारण 'सुमन' जैसी साध्वी वधू वेश्या बनने पर बाध्य हो सकती है। लेखक के हृदय में वेश्या के प्रति भी पूर्ण सहानुभूति है और वह उससे घृणा न करके उसे करुणा की प्रतिमा मानकर चलते हैं। प्रेमचन्द जी अपने पात्रों से भी स्पष्ट कहला देते हैं "हमें वेश्याओं से घृणा करने का कोई अधिकार नहीं। वह हमारी कुवासनाओं और सामाजिक अत्याचारों की शिकार बनकर ही इस कुमार्ग पर चलने के लिये बाध्य होती हैं। हमारे ही कलुषित समाज के ढकोसलों से तंग आकर यह वेश्या-रूप धारण कर लेती हैं। इस सब का उत्तरदायित्व केवल हमारे ही ऊपर है। हमारी ही पिशाच-वृत्तियों का लक्ष बनकर इन अबोध बालिकाओं को अपना जीवन नष्ट कर लेना होता है। इसलिये घृणा की पात्र यह वेश्यायें नहीं, हम हैं, और हमारा समाज है"—यथार्थवाद की आड़ में वेश्या-वृत्ति का नग्न-नृत्य मुन्शी प्रेमचन्द जी ने नहीं कराया, बल्कि आपने दिखलाया है कि इन वेश्याओं के पास भी हृदय होता है, संवेदना होती है, करुणा होती है और होती है वह व्यापक-व्यथा जो उनके हृदय में सर्वदा निहित रहकर भी उनके मुखमंडल को सर्वदा पुष्प-सम खिलाये रखती है। जो समाज उन्हें सामाजिक-वासना-तृप्ति का साधन मात्र समझता है उस समाज के प्रति उनके हृदय में घृणा क्यों न हो, उत्पीड़न क्यों न हो, विद्वेष क्यों न हो? 'शाँता' 'सुमनबाई' की छोटी बहिन है इसलिए घरके द्वार पर आकर उसकी बारात लौट जाती है। समाज का इससे बड़ा उपहास और क्या हो सकता है? एक बहिन के दोषों की भागिनी दूसरी बहिन को बनाना पड़ा है। 'शाँता' को चित्रित करके प्रेमचन्द जी ने 'सेवासदन' में भारतीय नारी का सुन्दरतम उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'शाँता' अपने तप, प्रेम, और साधना से 'सदन' जैसे व्यक्ति को भी संयमशील बनाने में सफल हो जाती है। अंत में

प्रेमचन्द जी ने 'सेवासदन' की स्थापना करके वेश्याओं तथा समाज के सम्मुख एक सुन्दर सुधारवादी सुझाव प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास प्रथम रचना होने पर भी रचना-कौशल के विचार से बहुत सुन्दर है। 'सुमन' पर समस्त उपन्यास की कथा केन्द्रित है और उपन्यास में उसके व्यक्तित्व का लेखक ने बहुत सुन्दर विकास किया है। आदि से अंत तक वह हमारी सहानुभूति की पात्र बनी रहती है और कभी आँखों के सामने से ओझल नहीं होती। 'शाँता' की कहानी भी 'सुमन' के चरित्र के विकास में सहायक होती है। घटना, परिस्थिति और चरित्रों के निर्माण में लेखक ने सुन्दर सामंजस्य से काम लिया है। कथा में आदि से अंत तक स्वाभाविकता है और पात्रों में पूर्ण सजीवता।

सजीव वातावरण प्रस्तुत करना और चरित्र-चित्रण में विशेष सफलता होना 'सेवासदन' की अपनी-विशेषता है। लेखक ने नगर के सेठ-साहुकारों और समाज-सुधारकों के व्यंग-चित्र बहुत ही सुन्दर प्रस्तुत किये हैं। उपन्यास का वातावरण तथा कथा ऐसे सुन्दर क्रम के साथ रखी गई है कि कहीं पर भी कोई न्यूनता प्रकट नहीं होती। शहर, गली, सड़कें, बाज़ार सभी के सजीव चित्र उपस्थित किये हैं। इस उपन्यास में समाज के जो व्यंग्य-चित्र मुन्शी प्रेमचन्द जी ने प्रस्तुत किये हैं वह उनकी अपनी विशेषता है और प्रथम बार ही हिंदी साहित्य में आपके द्वारा आये हैं। इससे पूर्व इस प्रकार के व्यंग्यात्मक-चित्रण की प्रणाली हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रचलित नहीं थी।

'सेवासदन' के पश्चात् आपका 'वरदान' उपन्यास प्रकाशित हुआ। परन्तु पाठक प्रेमचन्द जी से 'सेवासदन' के पश्चात जैसे उपन्यास की आशा रखते थे वह यह उपन्यास न निकला। वस्तु-संघटन और चरित्र-चित्रण के सुन्दर होने पर भी 'सेवासदन' के लेखक की प्रतिभा का आभास हमें इस उपन्यास से नहीं मिलता।

इस रहस्य का प्रधान कारण यही है कि 'वरदान' उपन्यास की भी रचना 'सेवासदन' से पहिले ही हो चुकी थी और उसका प्रकाशन बाद में हुआ। 'सेवासदन' के पश्चात् प्रेमचन्द जी का महत्वपूर्ण उपन्यास 'प्रेमाश्रम' आया। 'प्रेमाश्रम' को देखकर पाठकों की तृप्ति हुई। प्रेमाश्रम में किसानों पर ज़मीदारों के अत्याचार, पुलिस की चालबाज़ियाँ, अफ़सर मातहतों की धोखेधड़ी, वकीलों की बदमाशी, न्यायाधीशों की अंधेरगर्दी इत्यादि सभी बातों का सजीव-चित्रण लेखक ने किया है। 'प्रेमा' में घर की समस्या है तो 'सेवासदन' में समाज की और 'प्रेमाश्रम' में देश की। इस प्रकार प्रेमचन्द जी ने अपने साहित्य में गृहस्थ, समाज और देश सभी पर समान रूप से प्रकाश डाला है।

'प्रेमाश्रम'

'प्रेमाश्रम' में प्रधान रूप से किसान और ज़मीदार के संघर्षों का लेखक ने चित्रण किया है। समस्त भारत के कोने-कोने में छा जाने वाले भारतीय-किसान आँदोलन का 'प्रेमाश्रम' ही एक अग्रदूत है। भारत के किसानों की कठिन परिस्थितियों का मूल कारण 'प्रेमशङ्कर' कहता है, "दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन ग़रीब किसानों पर नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके आधीन उनका जीवन व्यतीत होता है और ये परिस्थितियाँ क्या हैं? आपस की फूट, स्वार्थ परायणता और एक ऐसी संस्था का विकास जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है। लेकिन ज़रा और विचार कीजिये तो यह तीनों टहनियाँ एक ही शाखा से फूटी हुई प्रतीत होंगी, और यह वही संस्था है जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलम्बित है। आपस में विरोध क्यों है? दुरव्यवस्थाओं के कारण, जिनकी कि वर्तमान शासन ने सृष्टि की है। परस्पर प्रेम और विश्वास क्यों नहीं? इसलिए कि यह शासन इन सद्भावनाओं को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता। इस पारस्परिक विरोध का सब से बड़ा दुःख-जनक फल क्या है?

भूमि का क्रमशः अत्यन्त अल्प भागों में विभाजित हो जाना और उसके लगान की अपरिमित वृद्धि।" (प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३११)। इस प्रकार प्रेमचन्द जी ने भारतीय जीवन की विषमता पर प्रकाश डाला और यह बतलाया है कि किस प्रकार अँगरेज़ों ने ज़मीदारी प्रथा को भारत में प्रचलित करके जनता को ऐसे दो वर्गों में विभाजित कर दिया कि जो बाद में शोषित और शोषक के रूप में पनपें। अँगरेज़ी शासन-काल की यही कुव्यवस्था भारत में इतना असंतोषजनक वातावरण उपस्थित करने की उत्तरदायी हुई। इसी कुव्यवस्था से लाभ उठाकर अँगरेज़ी सरकार ने एक वर्ग को अपनाया और जब तक अवसर मिला अपना उल्लू सीधा करती रही। प्रेमचन्द जी की आत्मा ने इस कुव्यवस्था के प्रति विद्रोह किया। वह राजा और प्रजा के बीच में ज़मीदार-वर्ग को सहन करने के लिये उद्यत नहीं थे। इसी लिये उन्हों ने 'मायाशङ्कर' से कहलवाया है, "भूमि या तो ईश्वर की है, जिसने इसकी सृष्टि की है, या किसान की है, जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसीलिये उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या इससे कम आपत्ति जनक व्यवस्था करे। यदि किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को विरासत या मिल्कियत, जायदाद या अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य-पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता के रूप में दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज कुव्यवस्था का कलंक-चिह्न मात्र समझेगा। ज़मीदार को समझना चाहिये कि वह प्रजा का मालिक नहीं वरन् उसका सेवक है। यही उसके अस्तित्व का उद्देश्य और हेतु है। अन्यथा संसार में उसकी कोई आवश्यकता न थी। उसके बिना समाज के संगठन में कोई बाधा न पड़ती। वह इस लिये नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को विलास और विषय-भोग में उड़ाए, उनके टूटे-फूटे झोंपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उनकी

नम्रता को अपने रत्नजटित वस्त्रों से अपमानित करे, उनकी संतोष-मय सरलता को अपने पार्थिव-वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद लिप्सा से उनकी क्षुधा-पीड़ा का उपहास करे। वह अपने स्वत्वों पर जान देता हो और अपने कर्तव्य से अनभिज्ञ हो। ऐसे निरंकुश प्राणियों से प्रजा की जितनी जल्दी मुक्ति हो, उनका भार प्रजा के सिर से जितनी ही जल्द दूर हो, उतना ही अच्छा है।" (प्रेमा-श्रम पृष्ठ ६४२)। इस प्रकार ज़मीदारी के प्रति मु० प्रेमचन्द जी के जो विचार हैं वह इससे स्पष्ट हो जाते हैं। ज़मीदारों, उनके कारिन्दों तथा साधारण नौकरों की गन्दी हरकतों का सजीव चित्रण इस उपन्यास में मुन्शी प्रेमचन्द जी ने किया है। भारतीय ग्रामीण जनता पर होने वाले पैशाचिक अत्याचारों को देख कर प्रेमचन्द जी का हृदय दहल उठा था और उनकी तड़पती हुई आत्मा भारत के ग्रामों में एक स्वर्ण-युग का स्वप्न देखा करती थी। 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर ग्राम का निर्माण उन्होंने अपने आदर्श के अनुसार ही किया है। इसमें उन्होंने अपनी कल्पना को साकाररूप दिया है। मायाशङ्कर अपने कर्तव्य को पहिचान कर लखनपुर के किसानों को वहाँ की सब भूमि दे देते हैं और दो ही वर्ष में लखनपुर की काया पलट हो जाती है। प्रत्येक घर पर सायवान पड़ जाता है और उन सायबानों में बड़े-बड़े तख्त बिछ जाते हैं। घरों में सुफ़ैदी हो जाती है और फूँस के झोंपड़ों के स्थान पर खपरैलों के न चूने वाले स्वस्थ-मकान बन जाते हैं। बैलों के भूसा खाने को पक्की खोरें बन जाती हैं और कई घरों पर सवारी के लिये घोड़ियाँ बँध जाती हैं। चौपाल में पाठशाला खुल जाती है और उसके सामने एक पक्का कुँआ बन जाता है। चौतरों पर बैठकर चौधरी रामायण का पाठ करते हैं और स्त्रियाँ उन्हें सुनती हैं। गाँव का रङ्ग ही बदल जाता है। जिन कादिर मियाँ को भरपेट भोजन प्राप्त नहीं होता था उन्हींके पास अब सब कुछ है। लगान भी १०० रु०

से २० रु० रह गया और नजराना भी नहीं देना पड़ता। खलिहान से जो अन्न उठता है वह कर्ज में नहीं चला जाता, क़ादिर मियाँ के घर पर पहुँचता है! देहाती-जीवन का यह स्वर्ग-स्वप्न मुन्शी प्रेमचन्द जी ने अपने 'प्रेमाश्रम' में प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द जी आशावादी लेखक थे। इसी लिये उन्होंने अपनी कल्पना का आश्रय लेकर लखनपुर का यह स्वर्ग-स्वप्न निर्मित किया था। कुछ यथार्थवादी लेखक प्रेमचन्द जी के इस उपन्यासमें कल्पना का आधिक्य देख कर खीज उठते हैं और उपन्यास के महत्व को कम करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु यह उनका उथलापन है। एक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखक कभी यह हो ही नहीं सकता कि एक आदर्श-भविष्य की कल्पना का चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत न करे। केवल यही मुन्शी प्रेमचन्दजी ने किया है। वास्तविक परिस्थितियों का जहाँ प्रेमचन्द जी चित्रण करने पर जुटे हैं वहाँ किसान और जमीदार की सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्या तक उनकी पैनी दृष्टि पहुँच गई है। उपन्यास के पूर्वार्ध में लेखक विशुद्ध यथार्थवादी रहा है और बहुत ही सजीव चित्रण उसने उपस्थित किया है; परन्तु उत्तरार्ध में कल्पना का विशेष आश्रय लेकर उपन्यास का निर्माण किया है। 'प्रेमाश्रम' के उत्तरार्धमें प्रेमचन्द जी की सुधारवादी प्रकृति ने विशेष जोर पकड़ा है और एक उपदेशक की नीति को उन्होंने अपना लिया है। सभी को त्यागी और आदर्शवादी बनाने की यहाँ वह क़सम खाकर लिखने के लिये उद्यत हुए प्रतीत होते हैं। प्रेमशङ्कर अमेरिका से साम्यवादी विचार लेकर आया है। इसलिए उसका यहाँ आकर अपने को जमीदारी-अधिकारों से मुक्त कर लेना तो युक्ति संगत दीखता है; परन्तु डा० इर्फ़ानअली, डा० प्रियनाथ, और ज्ञान शङ्कर का इस प्रकार कायापलट होकर एक दम साधु बन जाना एक जादू सा प्रतीत होता है। इसी तरह सुक्खू चौधरी और विसेसर साह का भी एक दम चरित्र परिवर्तित

हो जाना कुछ-युक्ति संगत मालूम न देकर लेखक की कल्पना और उसके आदर्शवाद मात्र प्रतीत होते हैं। जीवन भर वासना-ग्रस्त रहने वाला राय कमलानन्द का एकदम आत्मदर्शी साधु हो जाना और रानी गायत्री का एकाएक राजपाट छोड़ कर तीर्थाटन करने चल पड़ना भी बहुत कुछ विचित्र सी ही घटनायें प्रतीत होती हैं। पुस्तक के अन्त तक सभी दुष्ट-पात्र या तो पलटा खा कर साधु-वृत्ति वाले बन जाते हैं अथवा किसी कारणवश मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास का पूर्वार्ध जितना सुन्दर बन पड़ा है उतना उत्तरार्ध नहीं बना और वह पाठक के लिये विशेष मनोरंजन की सामग्री भी इसलिये नहीं बन पाया है क्योंकि इसके पात्र स्वाभाविक न रह कर अस्वाभाविक हो गये हैं और उनमें अपनापन न रहकर उन्हें लेखक की उपदेशात्मक प्रवृत्ति का शिकार बन जाना पड़ा है।

'प्रेमाश्रम' में कई खटकनेवाली बातें भी वर्तमान हैं। प्रेमचन्द जी की उपदेशात्मक प्रवृत्ति के आधिक्य पर ऊपर विचार हो चुका है। दूसरी खटकने वाली बात यह है कि 'प्रेमाश्रम' के कई पात्र बीच ही में आत्महत्या कर डालते हैं और इस प्रकार लेखक को आगे बढ़ने के लिये मार्ग साफ़ कर देते हैं। जब किसी पात्र के भावी जीवन को संचालित करने में लेखक असफल हो जाता है तो उसकी आत्महत्या करा देने का उसके पास सबसे सरल साधन होता है। 'प्रेमाश्रम' में विद्यावती, रानी गायत्री और ज्ञानशङ्कर की मृत्यु इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त लाला प्रभा-शङ्कर के दोनों लड़कों की हत्या कराना बहुत ही खेद पूर्ण विषय है। यदि यह बेचारे जीवित भी रहते तब भी कथा के प्रसार या प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। इनके मर जाने के कष्ट से दुखी होकर दयाशंकर को सज्जन बनाने वाली बात कुछ युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती। यदि उनका बलिदान

देवी-देवताओं के अन्ध-विश्वास के विरुद्ध विद्रोह है तो यह कुछ युक्ति संगत अवश्य ठहरता है, परन्तु उनके निवारण के लिये इससे सुन्दर और कई साधन प्रस्तुत कराये जा सकते थे।

'प्रेमाश्रम' की रचना-कुशलता पर यदि विचार किया जाये तो उसमें 'कर्म-भूमि' और 'गोदान' के गाम्भीर्य की छाया देखना तो उपहास होगा, 'सेवासदन' की सी भी परिपक्वता प्राप्त नहीं होती। अविकसित रचनात्मक-प्रतिभा की झलक इस उपन्यास को पढ़ कर मिलती है। कार्य-कारण की सम्बद्धता इस उपन्यास में नहीं मिलती और वर्णन-शैली भी नाटकीय ढंग पर नहीं है। 'प्रेमाश्रम' के पात्र सतत विकासमान न होकर उलटे घटनाओं से जन्म लेकर आते हैं। पात्रों के चरित्रों पर नवीन घटनाओं की न तो प्रतिक्रिया ही होती है और न पात्रों के चरित्रों से घटनाओं का उदय ही होता है। यह दोनों पृथक-पृथक एक दूसरे से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हुए चलते हैं और इसी से अनेकों स्थानों पर मेल न खाकर स्वाभाविकता का ह्रास हो जाता है। कहीं-कहीं पात्र घटनाओं का निर्माण भी कर डालते हैं। वह अपने को जल में कमल की भाँति उससे पृथक रख लेते हैं और वह घटना प्राण रहित सी कथा से अलग-थलग रह जाती है। ज्ञानशंकर परिस्थितियों के साथ नहीं बदलते। राय कमलानन्द और रानी गायत्री की सम्पत्ति पाने पर उनमें कुछ परिवर्तन आ जाना केवल परिस्थितियों का प्रभाव मात्र है, यह उनके चरित्र का क्षणिक परिवर्तन है। राय कमलानंद का व्यक्तित्व कोरा प्रेमचन्द जी की कल्पना पर आधारित है। वैसा कोई मनुष्य पृथ्वी पर जन्म लेकर रह भी सकता है, हमें तो कभी-कभी इसमें भी संदेह होने लगता है। यह सब होने पर भी, वह काल्पनिक ही सही, परन्तु है बहुत सबल पात्र, जिसके निर्माण करने में मुं० प्रेमचन्द जी ने सबल-कुशलता से काम लिया है।

'प्रेमाश्रम' के एक वर्ष पश्चात् सन् १९२२ ई० में 'रङ्गभूमि' का प्रकाशन हुआ। देश में सन् १९२० का काँग्रेस-आँदोलन चल रहा था। ऐसे राष्ट्रीय-वातावरण में प्रेमचन्द समाज के बखेड़े को पीछे छोड़कर राष्ट्रीय क्षेत्र में कूद पड़े। धर्मान्धता से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता का प्रश्न भारत के सम्मुख था। अँगरेज़ी शासन की कूटनीति फूट का अस्त्र लेकर स्वेच्छाचारी दास पदाधिकारियों के आश्रय पर चल रही थी। ज़मीदार, ताल्लुकेदार, राजे और ठाकुर तथा नवाब, सब अपनी ऐश-पसंदी में मसनदों पर पड़े गिलौरियाँ चबाते थे। उनकी बला से देश की ९० प्रतिशत जनता रोटी और कपड़े के लिए हाहाकार कर रही हो। प्रजा पर मनमाने अत्याचार हो रहे थे। पशु-बल का बोल-बाला था। इसी समय महात्मा गाँधी आत्मबल का अस्त्र लेकर पशु-बल के सामने सीना खोलकर डट गए। इसी गाँधीवादी-सत्याग्रह की पृष्ठ-भूमि पर प्रेमचन्द जी ने 'रङ्गभूमि' का निर्माण किया। 'रङ्गभूमि' में भारतीय-जीवन का सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत स्पष्टीकरण है। गाँधी-वादी दर्शन और नीति का सम्भवतः इतना सुन्दर स्पष्टीकरण और कोई नहीं कर पाया जितना प्रेमचन्द जी ने किया है। गाँधीजी की संघर्ष-नीति को देखिये कितना सुन्दर चित्रण है जिसमें आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए मृत्यु की शय्या पर पड़ा सूरदास पाग-लपन में कह उठता है, "बस-बस अब मुझे क्यों मारते हो? तुम जीते, मैं हारा। यह बाज़ी तुम्हारे हाथ रही, मुझ से खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो और तुम्हारा उत्साह भी ख़ूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँपने लगते हैं, खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं। कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो और हम अनाड़ी हैं। बस इतना ही फ़रक है। तालियाँ क्यों बजाते

'रङ्गभूमि'

हो ? यह तो जीतने वाले का धर्म नहीं। तुम्हारा धर्म तो है हमारी पीठ ठोंकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, अवश्य होगी।" (रङ्गभूमि पृष्ठ ८६०)। प्रेमचन्द जी की वह भविष्यवाणी आज हमारी आँखों के सम्मुख है। 'रङ्गभूमि' में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी पात्र लेखक ने प्रस्तुत किये हैं और सभी वर्गों को भी छुआ है। पाँडेपुर के भैरो, सूरदास, ताहिर अली, जगधर ग्रामीण पात्रों को लेकर कुँवर भरतसिंह, राजा महेन्द्रसिंह, मिस्टर क्लार्क और जसवंत नगर के दीवान तथा महाराजा के अन्य मित्रों का सजीव चित्रण देकर लेखक ने भारत के प्रायः सभी धार्मिक और आर्थिक वर्गों को इस उपन्यास में ले लिया है। चरित्र-चित्रण बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। इस उपन्यास में राजा-रङ्क, विद्वान-मूर्ख, देशी-विदेशी, देश-सेवक-देशद्रोही, जमींदार-किसान, मालिक-मजदूर, आत्मसेवी-आत्मदर्शी, धार्मिक-गुंडे, धार्मिक-पंडे, सच्चे-झूटे, सभी पात्र वर्तमान हैं और सभी के साथ लेखक ने न्याय किया है और उनका चरित्र-चित्रण सहानुभूति पूर्वक ही हुआ है। पुरुषों के साथ-साथ भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में साहस दिखलाने वाली वीर भारतीय रमणियों का भी सुन्दर चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। सोफ़िया, इन्दु और रानी जाह्नवी की अवतरणा बहुत ही कलापूर्ण ढंग से हुई है। सोफ़िया का चित्रण लेखक ने आदर्शोन्मुख होकर भावना जगत के आदर्श प्रेम को लेकर किया है। उसमें भौतिकता लेश मात्र भी नहीं आने पाई है। सेवा, सहानुभूति और देश-प्रेम की वेदी पर सोफ़िया के आदर्श-चरित्र का निर्माण किया गया है। इन्दु और रानी जाह्नवी के चरित्रों में लेखक ने क्षत्राणियों का अमर-इतिहास फूंक दिया है। देश-प्रेम, बलिदान, और अमर त्याग की

कसौटी पर रानी जाह्नवी पूर्ण उतरती हैं। माता की संवेदना के साथ-साथ माता का गौरव भी उनमें कूट-कूट कर प्रेमचन्द जी ने भर दिया है। 'विनय' इस उपन्यास का अमर पात्र है जो अपने जीवन को आदर्श के लिये मृत्यु की भेंट चढ़ा देता है। 'रंगभूमि' की रचना-कुशलता को देखकर हम 'प्रेमाश्रम' के कलाकार को शताब्दियों पीछे छोड़ देते हैं। इस उपन्यास में लेखक की कला का विशेष रूप से प्रस्फुटन हुआ है। इस उपन्यास की घटनाओं का संतुलित विकास हुआ है और पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक ने स्वाभाविक-विकास-शैली से काम लिया है। 'प्रेमाश्रम' के पात्रों की भाँति खींच तान कर दुर्जन पात्रों को सज्जन बनाने का प्रयत्न इस उपन्यास में नहीं मिलता और यही कारण है कि इस उपन्यास की स्वाभाविक सरलता और कलात्मकता नष्ट नहीं होने पाई है। इसके धारावाहिक प्रवाह में भी कहीं कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। रंगभूमि के पात्र घटनाओं के साथ-साथ समानान्तर रूप से चलते हैं और पात्रों का विकास एक दूसरे के सम्पर्क से होता है। 'प्रेमाश्रम' का लेखक आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी बनकर पात्रों की बागडोर अपने हाथों में सँभाल लेता है और उनका संचालन वह अपनी इच्छानुसार करते हुए अंत में 'प्रेमाश्रम' की स्थापना कर डालता है। परन्तु 'रंगभूमि' का लेखक ईश्वरीय शक्तियाँ अपने हाथों में लेकर पात्रों का निर्माता नहीं बना है। उसने पात्रों के स्वतंत्र विकास में बाधा उपस्थित नहीं की। कथा दुखान्त हो गई तो क्या, कथा का गाम्भीर्य तो लेखक ने नष्ट नहीं होने दिया और इसी लिए हम रङ्गभूमि को प्रेमचन्द की पूर्ण रूप से यथार्थवादी रचना कह सकते हैं। सूरदास, इन्द्रदत्त और विनय मरकर भी अमरता का संदेश देते हैं और इसी से लेखक के आदर्श की पूर्ति हो जाती है। 'रंगभूमि' भारतीय-राष्ट्र का इतिहास है, मनोविज्ञान की कसौटी है, जीवन की रूप-रेखा है, काव्य की

सुन्दर कलाकृति है और प्रेमचन्द जी के साहित्य का वह निखरा हुआ रूप है कि जिसे हम संसार के किसी भी साहित्य के समक्ष सुगमता पूर्वक गर्व के साथ सीना उभार कर रख सकते हैं।

रङ्ग-भूमि के पश्चात् 'काया-कल्प' की रचना हुई जिसमें लेखक फिर न जाने किस प्रकार कल्पना के चक्कर में जाकर फँस गया। इसकी कथावस्तु अलौकिक है और पुनर्जन्म की कल्पना के आधार पर इस उपन्यासकी सृष्टि हुईहै। यह उपन्यास आध्यात्मिक-दृष्टिकोण से लिखा गया है। लेखक ने पात्रों की इस जन्म की घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के साथ-साथ गत जन्म की घटनाओं के भी सम्बन्ध स्थापित किये हैं। कहीं-कहीं पर तो जब लेखक रहस्योद्घाटन पर तुलता है तो पाठक का सिर चकराने लगता है और उस की उपन्यास पढ़ने की समस्त मनोरंजन भावना काफ़ूर हो जाती है। भाषा, भाव और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह बहुत सुन्दर रचना है। परन्तु आध्यात्मिक-तत्वों के विवेचन में पड़ कर इसकी औपन्यासिकता हिल उठी है। कला की दृष्टि से यह एक सुन्दर रचना है। 'काया-कल्प' में प्रेम के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की भावना को भी सुलझाने का प्रेमचन्द जी ने प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त ज़मीदारों अथवा उच्च अधिकारियों द्वारा बेगार में पकड़े जाने वाले मज़दूरों की भी मार्मिक कथा इस उपन्यास में प्रस्तुत की गई है।

'काया-कल्प' के पश्चात् आपने 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' की रचना की। 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह की समस्या और उसके कुपरिणामों पर लेखक ने प्रकाश डाला है। तीन बच्चे होने पर भी तोताराम वासना तृप्ति के लिए दूसरा विवाह करता है। 'प्रतिज्ञा' में प्रेम-साधना को लेकर लेखक ने कर्तव्य-निष्ठा के आधार पर एक छोटे से उपन्यास का निर्माण किया। इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक हुआ है।

इन दो उपन्यासों के पश्चात लेखक ने 'ग़बन' उपन्यास की रचना की। 'गबन' में प्रेमचन्द की पूर्ण प्रतिभा विकसित हुई है और मानव-दुर्बलता, तथा असमर्थता का चित्रण है। परिस्थितियों को लेखक ने प्रधानता देकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार मानव उनके चक्कर में फँस कर निरुपाय हो जाता है और अपने आप नीचे ऊपर गिरना और उठना प्रारम्भ कर देता है। इस उपन्यास की कथावस्तु बहुत ही सुगठित है। केवल कोरी कल्पना का आधार लेकर कहीं भी तर्क को पीछे नहीं छोड़ा गया। पात्रों और घटनाओं के घात प्रति-घात इसमें विशेष सतर्कता के साथ विकसित हुए हैं। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध लेखक ने ऐसे कलात्मक रूप से स्थापित किया है कि स्वाभाविक तारतम्यता को कहीं पर भी आघात नहीं पहुँचता। 'गबन' की प्रत्येक घटना किसी पात्र के चरित्र से जन्म लेकर आती है और प्रत्येक घटना का पात्र के चरित्र पर अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ता है। 'रामनाथ' के चारों ओर इस उपन्यास की कथा केन्द्रित रहती है। उसका चरित्र सतत परिवर्तन-शील है। वह साधारण विद्यार्थी-जीवन से कुसंगति में पड़ कर मिथ्या शेखी बघारने वाला आवारा बन गया। स्त्री से अपनी परिस्थिति को छुपा कर अपने ऐश्वर्य की डींग हाँकी और उसे प्रसन्न रखने के लिए कर्ज़ा लिया, घूस ली और अन्त में एक दिन दफ़्तर के रुपये चुरा लिये। गाम्भीर्य की कमी के कारण वह परिस्थितियों को सँभालने में असफल रहा। परिस्थितियों से भयभीत होकर भाग निकला और अन्त में पुलिस के हाथों में पड़ कर मुख़बिर बन गया। इस समय यदि 'जलपा' का सबल व्यक्तित्व उसके बीच में न आ जाता तो निश्चित ही वह अनेकों निरीह व्यक्तियों की हत्या कराने का भागी बन जाता। 'रामनाथ' का व्यक्तित्व इतना दुर्बल है कि वह परिस्थितियों का बराबर शिकार

'ग़बन'

बनता चला जाता है। 'जलपा' का व्यक्तित्व बहुत सबल है और उसके व्यक्तित्व का विकास 'रामनाथ' के भाग जाने पर ही होता है। उसके चरित्र में स्थाई सी लगने वाली कमज़ोरियाँ एकदम काफूर हो जाती हैं और वह प्राणपण से अपनी भूलों को सुधारने के लिये कर्तव्य परायणता की ओर अग्रसर हो जाती है। 'रामनाथ' के उद्धार का श्रेय 'जलपा' को ही पहुँचता है। 'जलपा' की सहेली 'रतन' का चरित्र भी धर्मपरायणता, पतिभक्ति, स्वार्थ-त्याग और सरल-प्रेम की कसौटी पर बहुत खरा उतरता है। 'देवीदीन' और उसकी स्त्री 'जग्गो' की चरित्र भी बहुत सुन्दर और सबल हैं। 'ग़बन' का रहस्य जान कर भी वह 'रामनाथ' को अपने घर में आश्रय देते हैं। 'देवीदीन' एक सच्चा देशभक्त है, जिसके दो जवान बेटे विदेशी वस्त्रों की दूकान पर धरना देते हुए गोली के शिकार हो जाते हैं। इस दम्पति का चित्रण प्रेमचन्द जी ने बहुत सजीव किया है। 'गबन' के अन्त में प्रेमचन्द जी अपनी उपदेशात्मक आशावादी प्रवृत्ति को नमस्कार नहीं कर सके हैं और उन्होंने एक आनन्द मय कल्पना का चित्र अंकित किया है, जहाँ सब पात्र उद्योगशील होकर सुख तथा शाँति का आभास पाते हैं। बेचारी 'जोहरा' को नदी में डूब मरना पड़ता है क्यों कि प्रेमचन्द जी उसके लिये कोई जीने का मार्ग सुझाने में असमर्थ हो जाते हैं।

'गबन' में मु० प्रेमचन्द जी ने पुलिस की कार्यवाहियों की धाँधलेबाज़ी की अच्छी पोल खोली है। सच्चे अपराधियों की खोज करने की अपेक्षा अपराधों को कुछ निर्दोष व्यक्तियों के सिर पर लादने में ही भारतीय पुलिस अपनी सफलता समझती है। 'गबन' की रचना में सोद्देश्यता को ध्यान में रखते हुए भी मु० प्रेमचन्द जी ने उपदेशात्मक प्रवृत्ति को नहीं अपनाया है और इस प्रकार यह उपन्यास यथार्थ-चित्रण में प्रेमाश्रन, कर्मभूमि और रंगभूमि से आगे निकल गया है। 'गबन' की कथा पहिले

उपन्यासों की प्रतिलिपि मात्र न होकर अपने में मौलिकता रखती है, इसलिए यह पाठकों के लिये विशेष आकर्षण की वस्तु बन गई है। मनोरंजन के दृष्टिकोण से भी यह उपन्यास आपकी पूर्व रचनाओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर और सजीव है। यों तो प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं का ही स्पष्टीकरण होता है परन्तु 'गबन' का निर्माण किसी विशेष समस्या के ही स्पष्टीकरण के लिये हुआ हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। सन् १९३७ में भारत के विभिन्न प्राँतों में काँग्रेस-आँदोलन के सत्याग्रहियों पर जो अत्याचार किया गया उसका चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। साधारण सी बातों पर गोलियों की बौछार होने लगतीं और देश को आतंकित करने के लिए सरकारी गुलामों ने सभी कुछ किया।

'कर्मभूमि'

'ग़बन' के पश्चात् प्रेमचन्द जी को एक बार फिर 'कर्मभूमि' में उतरना पड़ा। देश की पुकार को लेखनी-बद्ध करने की लालसा मन में संकुचित न रख सके। 'कर्मभूमि' में 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' की भाँति शोषित वर्ग को लेकर कार्य-क्षेत्र में उतरे। सेठों के घृणापूर्ण धन-उपार्जन के तरीकों, मठाधीश और ज़मींदारों की विलास-वृत्ति, राज्यकर्मचारियों की क्रूरता, स्वेच्छाचारी शासकों की निरंकुशता इत्यादि विषयों पर इस रचना में लेखक ने प्रकाश डाला है। रेणुका, सकीना, सुखदा, मुन्नी, नैना इत्यादि देवियों ने इस उपन्यास में वह कार्य किया है जो पुरुष भी नहीं कर सकते। सत्याग्रह आँदोलन का संचालन वह स्वयँ करती हैं। 'कर्मभूमि' की रचना में प्रेमचन्द जी की कलात्मकता पूर्ण विकसित रूप से प्रस्फुटित हुई है और 'गबन' तथा 'रंगभूमि' के सौंदर्य का इसमें पूर्ण रूप से निर्वाह किया गया है। इस उपन्यास में पात्रों की संख्या बहुत हो गई है और इसी लिये उनके विकास में भी बाधा

पड़ी है परन्तु उनका जितना भी विकास हुआ है वह सब बहुत पूर्ण और कलात्मक है। सजीवता, स्वभाविकता और मनोवैज्ञानिकता का निर्वाह इस उपन्यास के सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण में आद्योपांत वर्तमान है।

प्रेमचन्द जी की सब रचनाओं को जब हम क्रम से पढ़ते हैं तो हमें उनका जीवन तथा साहित्य-सतत परिवर्तनशील दिखलाई देता है। उनका आशावादी दृष्टिकोण धीरे-धीरे ठेस खाकर यथार्थवाद की ओर बढ़ा है और जीवन के अन्त तक पहुँच कर वह स्पष्ट रूप से यथार्थवादी हो गया है। यथार्थवादी-दृष्टिकोण लेकर भी भारतीय-आदर्श को भुलाना मुंशी प्रेमचन्द जी नहीं सीखे थे। प्रेमचन्द जी का अंतिम उपन्यास 'गोदान' है, जिसमें यथार्थवादी-दृष्टिकोण लेकर आपने पात्रों को परिस्थितियों में और परिस्थितियों को पात्रों के हाथों में खूब कलाबाज़ी खिलवाई हैं। 'गोदान' लिखते समय लेखक उपन्यास लिखने बैठा है; आशावादी स्वप्नों के फूल खिलाने नहीं। रामराज्य की स्थापना करने का उद्देश्य उस समय उसके सम्मुख नहीं है। वह तो जीवन को जीवन के ही पहलुओं से झाँकने के लिये चला है; कल्पना के पहलुओं से नहीं। समस्यायें आती भी हैं तो बहुत स्वाभाविक रूप में आती हैं, लेखक द्वारा आदर्श-पूर्ति के लिये निर्मित नहीं की जातीं। जीवन के सजीव-चित्र, लेखक ने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, निर्बल और कटपुतली के समान नहीं। 'गोदान' का 'होरी' 'रङ्गभूमि' के 'सूरदास' की भाँति जीवन में सफल न होकर ही भारतीय ग्रामीण-जीवन के यथार्थवादी दृष्टिकोण को निखरे रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। 'गोदान' में कठोर सत्य पर आशावादी चादर डाल कर सुख-स्वप्नों की कल्पना करने का प्रयास प्रेमचन्द जी ने नहीं किया। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ग्रामीण जीवन के साथ-साथ

'गोदान'

नागरिक-जीवन की भी उपेक्षा करके नहीं चले हैं। 'होरी' के संघर्ष-मय जीवन के साथ-साथ शहरी पात्रों का आमोद-प्रमोद, थियेटर और शिकार का भी सजीव-चित्रण किया गया है, जिससे पाठक यथार्थवाद के जाल में फँस कर ऊब नहीं उठता और उसकी मनो-रंजन प्राप्त करने वाली आकाँक्षाओं को ठेस भी नहीं लगती। एक ओर भारतीय समाज की दैनिक-दशा लेखक ने ग्रामीणता के चित्रण द्वारा प्रस्तुत की है और दूसर ओर नागरिक अहङ्कार के साथ-साथ, साँस्कृतिक-विकास जिसे कहते हैं, समाज-सेवा, शिक्षा-प्रचार, नाच-रङ्ग और इसी प्रकार की प्रसन्नता-वर्धक बातों को भी जुटाया है। इस प्रकार दो विपक्षी चरित्रों को लेकर लेखक ने समन्वय के साथ कथा और पात्रों के चरित्र-चित्रण का उत्कर्ष दिखलाया है। दोनों चरित्रों के आमने-सामने आजाने पर दोनों के गुण और दोषों का इतना निखरा चित्र सामने उपस्थित हो जाता है कि प्रथक-प्रथक रहने पर वह सम्भव नहीं हो सकता था। वास्तव में यह उपन्यास दो प्रथक-प्रथक कहानियों को लेकर चलता है और वह दोनों कथाएँ एक दूसरी से स्थान-स्थान पर कुछ मिल जाने पर भी प्रथक ही रहती हैं। दोनों कथाओं को उपन्यासकार ने आद्योपाँत खूब निभाया है। कुछ प्रेमचन्द जी के आलोचक इस दो कथाओं के होने को उपन्यास का दोष भी मानते हैं, परन्तु हम ऐसा नहीं मानते। बल्कि और उल्टी लेखक की कला-कुशलता का आभास हमें इसमें मिलता है। इस प्रकार 'गोदान' की कथा-वस्तु बिखरी हुई होने पर भी अपनी विशेषता रखती है और कहीं उसका सौंदर्य नष्ट नहीं होने पाता। 'गोदान' के चित्रण में लेखक ने निष्पक्ष-भाव से काम लिया है। भविष्य की सम्भाव-नाओं के लिये वर्तमान का गला नहीं घोंटा गया। अपने काल के समाज का सजीव चित्रण इस उपन्यास में लेखक ने प्रस्तुत किया है। 'ग़बन' का लेखक पात्रों को जीवन-पथ पर छोड़ कर स्वयँ

द्दष्टा बन जाता है। 'होरी' अपनी परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार स्वयम् अपना पथ-निर्माण करता है। परिस्थितियाँ उसे मिलती हैं और वह उनसे संघर्ष करता हुआ जीवन के पथ पर अग्रसर होता है। नियति के हाथों में खेलता है और अथक परिश्रम करता हुआ वह जीवन के अन्त तक चला जाता है। ग्रामीण-जीवन का खिलाड़ी 'होरी' परिस्थितियों के थपेड़े सहने में असमर्थ है; परन्तु नगर के रायसाहब, मिर्ज़ा और मेहता को लेखक ने इतना निर्बल नहीं बनाया। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली है और उनपर परिस्थितियों का यदि आघात होता है तो वह परिस्थितियों से टक्कर लेने में भी समर्थ हैं। कहानी के विचार से ग्रामीण-कहानी अधिक क्रमिक और सुगठित है। उसका विकास भी नगर की कहानी से अधिक सुन्दर और क्रमबद्ध है। नागरिकों को कबड्डी खिलाना प्रेमचन्द जी की अपनी सूझ है जिसका शहर के व्यवहारिक-जीवन से कम सम्बन्ध है। 'होरी' के रूप में उपन्यासकार ने भारतीय-किसान-वर्ग का वह चित्रण किया है जिसमें किसान के अन्दर पाये जाने वाले सभी गुण और दुर्गुण वर्तमान हैं। समाज की मर्यादा को मानता हुआ वह ईश्वर से डरता है। गाँव के मुखियाओं का उत्पीड़न वह अपनी परिस्थितियों को देख कर सहन करता है। धर्म के ठेकेदारों का अत्याचार सहन करता हुआ भी वह 'झुनिया' को घर में आश्रय देता है, सम्मिलित कुटुम्ब में छोटे भाई 'हीरा' और 'शोभा' को पुत्रवत पालता है, अलग होने पर भी उनका मान-अपमान होरी का अपना मान-अपमान है। भाई द्वारा अपनी गाय को जहर दिये जाने पर भी वह पुलिस द्वारा अपने भाई के घर की तालाशी लिवाने को सहन नहीं कर सकता। भाई के लापता हो जाने पर वह भावज की सहायता करता है। यह सब चरित्र के गुण होने पर भी वह महाजन के सामने झूठी क़समें खा सकता है, सन को गीला करके भारी बना,

देना और रुई में बिनौले मिला देना भी वह अनुचित नहीं समझता। अपने भाई के दो-चार रुपये भी वह दबा सकता है, यदि बाहर वालों की दृष्टि उस पर न पड़े। वह समाज से भय मानता है, अपनी आत्मा से नहीं। यह हैं होरी के जीवन के दोनों पक्ष, जिनके अन्तर्गत जीवन भर संघर्ष करता हुआ वह चलता चला जाता है। खाँदान के मान के लिये वह महाजन का शिकार बना हुआ है और इस खोखले खाँदान के मान में ही वह अपना सर्वस्व गँवाकर एक दिन कोरा मजदूर-मात्र रह जाता है। मजदूरी करते हुए उसे लू लग जाती है और वह बीमार पड़ जाता है। दशा बिलकुल बिगड़ जाने पर 'हीरा' भाभी से गोदान करने को कहता है। धनियाँ सन बेचकर जो बीस आने पैसे लाई थी उन्हें पति के मुर्दा-हाथों में रखकर कहती है, "महाराज ! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" और स्वयम् चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। 'गोदान'का अंत हो गया। होरी के मृतक शरीर के साथ, धनिया की मूर्छना के साथ और सूदखोर दातादीन अब भी हाथ पसारे पुरोहित बना सामने खड़ा है। 'गोदान' एक किसान की नीच सहुकार-द्वारा शोषण की कहानी है। इस उपन्यास में सूदखोरों के भी वर्ग बना कर उपन्यासकार ने रख दिये हैं। झिंगुरसिंह, दातादीन और लाला पटेश्वरी यह सभी किसानों का रक्त चूसने के लिये जोंक के समान हैं। दुलारी साहुकारिन भी किसी से कुछ कम नहीं है। साहुकारों के अत्याचार के साथ-साथ जमींदार और सरकारी अफ़सरों की सख्ती का भी चित्रण 'गोदान' में किया गया है। बिरादरी के अत्याचारों का भी चित्रण प्रेमचन्दजी ने किया है और दिखलाया कि किस प्रकार शादी, व्याह, मूँडन, कर्ण-छेदन, जन्म, मरण सब पर बिरादरी का ही अधिकार है। बिरादरी द्वारा निर्मित कृत्रिम नियमों का उलंघन करने वालों को तो मानो वह कच्चा ही

चबाने को तत्पर रहती है। उसके कृत्रिम-नियम पालन करके आप चाहे जो कुछ भी पाप कर्म क्यों न करते रहें बिरादरी आपके मार्ग में नहीं आती। 'दातादीन' एक चमारिन से फँसा हुआ होकर भी संस्कार कराता है और बिरादरी में मान का पात्र भी है और होरी पर बिरादरी आपत्तियों का पहाड़ ढहा देती है। ग्रामीण-समाज शहरी-ससाज से अधिक कड़ा है और अपने नियमों का उलंघन कदाचित सहन नहीं कर सकता। 'गोदान' में गोबर, सिलिया, मातादीन इत्यादि द्वारा सामाजिक बंधनों के विरुद्ध विद्रोह भी प्रेमचंद जी ने प्रकट किया है। 'गोदान'में भारतीय-संस्कृति का लेखक ने विशेष ध्यान रखा है और यह विशेषता उनके प्रायः सभी उपन्यासों में मिलती है। लेखक को देश का अग्रदूत मानते हुए उन्होंने कहीं पर भी अपने आदर्श और मर्यादा को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनका विचार था कि लेखक पर समाज और देश का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। पाश्चात्य-सभ्यता के भारत में बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध भी प्रेमचंद जी ने प्रकाश डाला है और उसका हर प्रकार से खंडन किया है। उन्होंने पश्चिम के नारी-स्वातंत्र्य के प्रतिपादन पर भी प्रकाश डाला है। गृहस्थी-संचालन के मूल में प्रेमचंदजी ने सेवा को प्रधान स्थान दिया है। आँख मींचकर नक़ल करना उन्हें पसंद नहीं था। वैसे पश्चिमी सभ्यता से आदान प्रदान की भावना को आपने प्रश्रय दिया है। नारी को वह भोग-विलास की उच्छश्रृंखल-सामग्री मात्र न मानकर गृहस्वामिनी मान कर चलते हैं। गोदान में 'मालती'के जीवन में भारतीयता आजाने से भारतीय-संस्कृति की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। लेखक जिस मार्ग को उचित समझता है उसी मार्ग पर उसे ले जाता है। इस प्रकार गोदान विशेष रूप से भारतीय सामाजिक-समस्याओं का स्पष्टीकरण मात्र ही है जिसमें लेखक विशेष कलात्मक रूप से सफल हुआ है। यह लेखक की सब से परिपक्व रचना है और

इसमें उन्होंने उपन्यास-साहित्य का उच्चतम उत्कर्ष उपस्थित किया है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के विषय

जैसा कि ऊपर उपन्यासों की संक्षिप्त-विवेचना से स्पष्ट हो जाता है, प्रेमचन्द जी के उपन्यासों का प्रधान-विषय देश की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक गुत्थियों को सुलझाना मात्र है। प्रेमचंद जी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखक हैं। उनके उपन्यासों का क्षेत्र बहुत व्यापक है और उन्होंने भारत के समाज में पाये जाने वाले प्रायः सभी वर्गों को अपने उपन्यासों का आधार बनाया है। उनका एक-एक पात्र एक-एक वर्ग का प्रतीक बनकर सामने आता है और पूरे समाज का ढाँचा इस प्रकार पाठक के सम्मुख खड़ा हो जाता है। इस काल की सामाजिक कुरीतियों और राष्ट्रीय उथल-पुथल का इतिहास यदि कोई पाठक अध्ययन करना चाहे तो उसे चाहिए कि वह प्रेमचंद जी के उपन्यासों को पढ़े। पारिवारिक छोटी-मोटी घटनाओं से लेकर राष्ट्र की गहन-गम्भीर समस्याओं तक का स्पष्टीकरण प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों में किया है। देश की सब परिस्थितियों का चित्रण इतना सजीव और सबल किया है कि उनका मूर्तिमान स्वरूप नेत्रों में झूलने लगता है। समस्याओं के स्पष्टीकरण में प्रेमचंद जी ने बहुत सूक्ष्म-दृष्टि और अलौकिक पर्यवेक्षण-शक्ति से काम लिया है। समाज और देश का कोई पहलू ऐसा रह नहीं गया है कि जिसे हम अछूता कह सकें। ग्रामीण और नागरिक दोनों जीवनों पर प्रेमचंद जी का समान अधिकार मिलता है और दोनों का ही सजीव चित्रण उन्होंने किया है; परन्तु विशेष रूप से ग्रामीण-चित्रण करने में लेखक ने विशेष उत्कर्ष से काम लिया है। शोषित मज़दूर और किसान का जो सजीव-चित्रण प्रेमचंद जी ने किया है वह आज तक के उपन्यास-साहित्य में मिलना दुर्लभ है। राजमहल

की अपेक्षा रंक की झोंपड़ी आपको अधिक अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुई है।

प्रेमचंद जी की कला में कलाबाज़ी का आभास खोजने वाले समालोचकों को शायद उनका साहित्य नीरस सा ही प्रतीत होने लगे, परन्तु जीवन के वास्तविक-रहस्य और मर्म को पहिचानने में जितनी सरलता और स्पष्टता से प्रेमचंद जी ने काम लिया है उतनी सरलता और स्पष्टता से अन्य लेखक काम नहीं ले पाया है। मानव-जीवन का सरल-स्पष्टीकरण ही उनके उपन्यासों की सुन्दरतम-कला है। सूक्ष्म से सूक्ष्म घटना की बाह्य और अभ्यंतर आत्मा को पहिचान लेना लेखक की सब से बड़ी कला है और इस कला में प्रेमचंदजी पूर्ण रूप से सफल हैं। घटनाओं का क्रम, चरित्रों का विकास, परिस्थिति का सजीव-चित्रण, भाषा की सजीवता यह सब उनके साहित्य की उच्चतम कलाएँ हैं। नई, पुरानी, परिचित और अपरिचित सभी घटनाओं को साक्षात रूप में खोल कर आँखों में झुला देना लेखक की सब से बड़ी सफलता है और इस सफलता का पूरा-पूरा श्रेय प्रेमचंद जी को ही पहुँचता है।

प्रेमचन्द की कला

प्रेमचंद जी अपने उपन्यासों में चरित्र और घटना दोनों को ही विशेष महत्व देते हुए चले हैं और दोनों में सामंजस्य स्थापित करने की ओर उनका विशेष रूप से ध्यान रहा है। किसी विशेष पात्र का निर्माण करने के लिये वह बैठ गये हों ऐसा कहीं भी उनके साहित्य से स्पष्ट नहीं होता। जिन पाठकों ने बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'शरत्' के साहित्य का अध्ययन किया है वह जानते हैं कि उन्होंने किस प्रकार एक-एक पात्र का कला-पूर्ण निर्माण किया है, परन्तु प्रेमचंद जी ने यह सब

चरित्र-चित्रण और कथावस्तु

नहीं किया। प्रेमचंद जी ने अनेकों पात्रों को लिया है और समाज की आवश्यकता के अनुसार ही उन्हें निभाया है। इस प्रकार उनके साहित्य में हमें समाजवादी प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक मिलती है। ग्रामीण-चित्रण में प्रोलीतेरियत-साहित्य का जो आभास मिलता है वह उनकी चरित्र-चित्रण-प्रणाली से और भी स्पष्ट होकर निखरे रूप में सामने आ जाता है। इस प्रणाली पर रूसी-साहित्य का प्रभाव है अवश्य, परन्तु भारतीय संस्कृति के सच्चे पुजारी प्रेमचंद जी ने किसी विदेशी-बाढ़ में बह जाना नहीं सीखा था। वह तो सब जगह से सच्चे मोती चुनना चाहते थे और वह उन्होंने चुने। प्रेमचंद जी का चरित्र-चित्रण परिस्थितियों के साथ में अठखेलियाँ करता और संघर्ष करता हुआ चला है, मुक्तरूप से प्रवाहित नहीं हुआ। इस लिए हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद जी समाज के लेखक हैं, व्यक्ति के लेखक नहीं। उनका व्यक्ति समाज का एक अंग है और वह उसी अंग के रूप में अपना विकास करना चाहते हैं, उससे प्रथक होकर नहीं कर सके हैं। विद्रोह वह अवश्य करते हैं परन्तु उनका विद्रोह इतना सबल नहीं है कि जो प्राचीन-रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करता हुआ एक नवीन पथ का निर्माण कर डाले। फिर भी प्रेमचंद जी के पात्र काफ़ी प्रगतिशील हैं और उनमें समाज, जाति और देश-सुधार की भावना वर्तमान है। पात्रों का चरित्र-चित्रण जितना भी हुआ है वह बहुत सजीव है और उसमें मानव की सबलता और दुर्बलताओं को समान रूप से लेखक ने लिया है। प्रेमचन्द जी ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उन्हें दाँए-बाँए सभी ओर से लिया है और उनके सभी पहलुओं पर समुचित प्रकाश डाला है। मानव की सद्-वृत्तियों और दुर्वृत्तियों, निर्बलताओं और सबलताओं, दयाशी-लता और क्रूरता, पाप-भावना और पुण्य-भावना सभी का स्वरूप प्रेमचन्द जी ने खड़ा किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है।

प्रेमचन्द जी ने अपने सभी उपन्यासों में कथनोपकथनों का प्रयोग प्रचुरता से किया है। भाषा सजीव होने के कारण कथनोपकथन बहुत सुन्दर और प्रभावशाली बन पड़े हैं। शिथिलता नाम मात्र के लिए भी कहीं पर नहीं आने पाई है। साधारण उर्दू के शब्दों का कहीं-कहीं पर प्रयोग करने से भाषा और भी सजीव हो उठी है। आपकी मँजी हुई भाषा में प्रवाह है, गति है और आकर्षण है। पात्रों की जो बात-चीत आपने कराई है उसमें उनके उपयुक्त ही भाषा का प्रयोग किया है। हिन्दू-परिवारों में हिन्दी और मुसलमान-परिवारों में उर्दू का प्रयोग बहुत युक्ति-संगत प्रतीत होता है और इससे उपन्यास की भाषा तथा शैली दोनों में विशेष नाटकीयता आ जाती है। अमीरों के घरों की भाषा और है और ग़रीबों के घरों की और; इस प्रकार स्थानोपयुक्त भाषा लिख कर लेखक ने अपने उपन्यासों में नाटकीय-प्रभाव बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया है।

उपन्यासों में नाटकीयता

इस प्रकार हमने प्रेमचन्द जी के उपन्यास-साहित्य पर एक दृष्टि डाली और देखा उन्होंने साहित्य के रूपमें देश, समाज, जाति और व्यक्ति को वह अमर-सम्पत्ति प्रदान की है कि जिसे खोकर वह अपना सब कुछ खो सकता है, और जिसकी रक्षा करके वह अपने भविष्य का भी निर्माण कर सकता है। भारतीय-समाज के उत्थान में जो सहयोग प्रेमचन्द जी के उपन्यास दे सकते हैं वह वेद, पुराण, कुरान, बाइबिल और इंजील भी नहीं दे सकते।

संक्षिप्त

(५)

जयशंकर 'प्रसाद'

(१८८६-१९३७)

[नाटककार, कवि, कहानीकार और सफल उपन्यासकार हम बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी को मानते हैं। श्री जयशंकर प्रसाद जी बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार थे, जिनका अध्ययन प्राचीन और आधुनिक सभी क्षेत्रों में समान रूप से था। संस्कृति और समाज, सभ्यता और मानव सभी के विकास का क्रमिक-उल्लेख आपके साहित्य में मिलता है। यदि **'कामायनी'** में आदि-पुरुष मनु का चित्रण है तो **'कंकाल'** में सामाजिक रूढ़ियों के शिकार मानव का। यदि **'चन्द्रगुप्त'** और **'स्कन्दगुप्त'** में गुप्त-कालीन सभ्यता और संस्कृति का विकास है तो **'तितली'** में आधुनिक प्रगति और समाज का चित्रण है। जयशंकर 'प्रसाद' जी का ज्ञान बहुत व्यापक है और हिंदी में उपन्यासों की जिस शैली को लेकर वह चले हैं वह अपने में नवीनता रखती है। प्रेमचन्द जी के उपन्यास बहुत अपनाये गये और उनको पाठक भी अधिक संख्या में उपलब्ध हुए परन्तु साहित्य के दृष्टिकोण से 'प्रसाद' जी के उपन्यासों का भी कुछ कम महत्व नहीं है। 'प्रसाद' जी को हम हिन्दी का रवीन्द्र कह सकते हैं बल्कि और उनसे भी कहीं अधिक।]

प्रसाद जी के उपन्यास

१९१९ ई० में जयशंकर 'प्रसाद' जी ने 'कंकाल' की रचना की। 'कंकाल' उपन्यास में मानव-मंगल की कामना से प्रेरित होकर सामाजिक कुचक्रों से ग्रस्त कंकाल-मानव को प्रसाद जी ने अपनी रचना का विषय बनाया है। इस उपन्यास में मानव सामाजिक-बंधनों से लड़ता है और उत्थान के लिये संघर्ष करता है।

इस उपन्यास की कथा के केन्द्र भारत के तीर्थ-स्थान हैं। धर्म-स्थानों पर धर्म की आड़ में मानव कितना कलुषित होकर अपनी प्रकृतियों का नग्न-नृत्य करता है इसका सजीव चित्रण इस उपन्यास में दिया गया है। 'देव निरंजन' कुम्भ के मेले के सबसे वड़े महात्मा होकर भी बाल्य-सखी किशोरी के यौवन पर फिसल पड़ते हैं। उनका व्यक्तित्व इतना कमजोर हो उठता है कि वह मानवी भूल की उपेक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं। महन्त

कंकाल

वन कर वह संसार को धोखा दे सकते हैं परन्तु अपने को धोखा नहीं दे सकते। यह परिस्थिति वहाँ और भी गम्भीर हो उठती है जहाँ वह अपने पतन को दार्शनिक-रूप देकर कहते हैं, "जगत तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं वह भी माया हैं, हमारा जीव भी प्राकृत है, क्यों कि वह भी अपरा प्रकृति है, जब विश्व मात्र प्राकृत है तो इसमें अलौकिक अध्यात्म् कहाँ ? यही खेल यदि जगत बनाने वाले का है तो मुझे भी खेलना चाहिए।" पापी अपने पाप का भी सम्बन्ध खोज लेता है और उसकी सार्थकता सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार देव निरंजन जी का यह खेल पर-स्त्री 'किशोरी' और विधवा 'रामा' के गर्भ से 'विजय' और 'तारा' के जन्म का कारण बनता है। आदर्शवादी मंगल देव 'तारा' को गर्भवती बना कर विवाह के दिन भाग खड़ा होता है और 'तारा' पर दुश्चरित्रा-माता की संतान होने का दोष लगाया जाता है। समाज 'विजय' को 'घन्टी' से विवाह करने की आज्ञा नहीं देता। 'तारा' जैसी पवित्र लड़की को छोड़ कर मंगलदेव 'गाला' से विवाह करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कंकाल' उपन्यास में समाज के मान्य कहलाने वाले वर्गों का खूब मज़ाक उड़ाया गया है और लेखक ने उनके झूठे घमंड और अभिमान की धज्जियाँ बिखेरकर रख दी हैं और सामाजिक ढकोसले की जरजरित-दशा का खोल कर प्रदर्शन किया है।

समाज ऊपर से जैसा दिखलाई देता है वास्तव में वह वैसा नहीं है। पाप की प्रति-मूर्ति 'मंगल' धर्म का ठेकेदार बन कर धर्म-ध्वजा फहराता है। यह समाज के बाहिरी रूप के दर्शन कराता है, अन्तरंग के नहीं। वहाँ समाज का धर्म नहीं पहुँचता। यह 'कंकाल' समाज के खोखलेपन की भयंकरता का द्योतक है। सामाजिक बंधनों ने मानव की जो दुर्दशा की है उसका चित्रण 'विजय' और 'यमुना' के रूप में प्रसाद जी ने साकार उपस्थित किया है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यास, सीधे-सादे और वर्णनात्मक-शैली के हैं। उनमें इस गंभीर व्यंग्य का नितांत अभाव है जो कंकाल में प्रसाद जी ने प्रस्तुत किया है। गोदान की शैली में कुछ व्यंग्य-चित्र प्रेमचन्द जी ने भी उपस्थित अवश्य किये हैं परन्तु 'कंकाल' आदि से अंत तक व्यंग्य-प्रधान ग्रन्थ है, जिसके शब्द-शब्द में समाज के वन्धनों से टक्कर ली गई है। इस उपन्यास में प्रसाद जी ने इस व्यंग्य-परिपाठी को खूब सफलता-पूर्वक निभाया है। घट-नाओं और संवाद सभी में व्यंग्य बहुत परिपक्व अवस्था में प्रस्फुरित हुआ है। किशोरी से निरंजन का प्रणय व्यंग्य की सुन्दर रेखा है। देवनिरंजन के मठ में संडे मुश्टंडे पलते हैं और दीन भिखारी बाहर जूठी पत्तलों पर झपटते हैं। यह समाज का कितना विकृत-रूप है? समाज के यह दोनों ही अंग काट डालने के योग्य हैं, जिनके नष्ट होने से समाज का कुछ अनर्थ नहीं हो सकता। इस उपन्यास में प्रसाद जी ने समाज का वह नग्न-रूप प्रस्तुत किया है जिसमें व्यक्ति की अवहेलना करके समाज के पाखंड को प्रश्रय दिया गया है। ऊपर से साफ़ चिट्टा दिखलाईदेनेवाले समाज का दामन कितना गन्दा है यह ज्ञान गहरी दृष्टि से देखा जाये? संवेदना और सुधार-वृत्ति से लेखक ने काम लिया है। व्यक्ति को परिस्थितियों के हाथों में डाल कर व्यंग्य-चित्र उपस्थित किये हैं।

समाज के हाथों सताये हुए पीड़ित-व्यक्ति के प्रति संवेदना प्रकट करके लेखक ने उस रहस्य का उद्घाटन किया है जो साधारण-व्यक्ति की नजरों से ओझल रहता है। कुकर्मों पर पर्दा डालने वाले पापी-समाज की दृष्टि में पाक-दामन वाले बने रहते हैं और दीन असहाय व्यक्ति की साधारण सी कमजोरियों पर समाज अपना न्याय-दंड सँभाल कर उन्हें सर्वनाश के गर्त में पहुँचाने से नहीं चूकता। सबल सबल है समाज के नियंत्रण के लिये भी और दुर्बल दुर्बल है समाज के चक्रों में फँस जाने के लिये। असहाय की साधारण भूल भी समाज की आँखों में किरकिरी बन जाती है और बलवान के महान से महान पाप को समाज मुस्कुराता हुआ निगल जाता है। 'कंकाल' में 'तारा' और 'घन्टी' पर समाज मन-माना अत्याचार करता है। प्रणय-दाम्पत्य की शिक्षा देने वाले नर-निशाचर द्वारा परित्यक्त होकर भी वह अन्याय को सहन करती है, मूक रहती है। पति को समझने में समर्थ होने से पूर्व 'घन्टी' पर समाज वैधव्य का श्राप लाद देता है। यह समाज की विडम्बना नहीं तो और क्या है? 'कंकाल' के प्रायः सभी पुरुष-पात्र ऊपर से सज्जन प्रतीत होते हुए भी अन्दर से खोखले हैं। जितनी भी स्त्रियाँ हैं वह पुरुष-द्वारा सताई हुई हैं। इस उपन्यास में 'प्रसाद' जी की संवेदना प्रधान रूप से नारी-जीवन के ही लिये विकसित हो पाई है। वह समाज से विशेष कुंठित से प्रतीत होते हैं और कहते भी हैं, "देखो समाज के इस पतित दलित अंग की ओर भी देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी महत्ता नष्ट हुई जा रही है? जिनको तुम पतित कह कर ठुकराते हो उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो तो मालूम होगा कि वह उनसे भी महान हैं जिन्हें तुम महान समझते हो। जिन्हें तुम पतित समझते हो उनमें जीवनोत्थान की आकांक्षा भी है; परन्तु तुम्हारे अत्याचार ने उनकी उन्नति के सब अवसर उनसे छीन लिये हैं। मानव की परि-

स्थितियों और दुर्बलताओं को संवेदना के साथ समझने में ही मानव का उद्धार होगा। दैव ने विपत्ति नहीं बनाई है, समाज ने स्वयँ अपने लिये काँटे बो लिये हैं, जिनको वह स्वयं ही नष्ट भी कर सकता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रसाद'जी हमें समाज को प्रतारणा करते हुए प्रतीत होते हैं। कंकाल में हिंदू, मुसलमान, ईसाई इन सब भेदों को मनुष्य-कृत मानकर उपहास की सामग्री मात्र लेखक ने बना दिया है। धार्मिक पाखंड और उच्चवर्गीय-अभिमान के हाथों में मानव अपनी मानवता खोकर पशु बन जाता है और उसके जीवन की व्यापक संवेदना का ह्रास हो जाता है। मानव की पशु-प्रवृत्तियाँ समाज और धर्म की इसी असमानता में जाग्रत होती हैं और फिर वह अपने लिये समाज के क़िले में घुसने और पशु-बल का प्रसार करने के लिये सुदृढ़ जाल रचने का प्रयत्न करता है। 'कंकाल' का मानव वह व्यक्ति है जो समाज के बन्धनों से मुक्त होने के लिये कराहता है, चिल्लाता है और प्रयत्न करता है। मानव ने समाज का निर्माण स्वयँ अपनी सुरक्षा के लिये युग-युग के परिश्रमों के पश्चात् किया है। तब क्या मानव की स्वतन्त्रता के लिये इस प्राचीन सामाजिक-गढ़ को यों ही रड़-रड़ करके धराशाई हो जाना चाहिये ? यह बात नितांत असंभव है। लेखक ने 'कंकाल' में उस समाज के सुधार की आशा की है। समाज व्यक्तियों से बनता है और व्यक्तियों को विकसित करने में सहायता देना समाज का धर्म है। आज आवश्यकता है कि समाज व्यक्ति के विकास में बाधा-स्वरूप न बनकर सहयोग की भावना से आगे बढ़े और व्यक्ति के विकास में अड़चनें उपस्थित करने के स्थान पर सहयोग प्रदान करे। बाहिरी आवरण के ढाँचे को छिन्न भिन्न करके अंतात्मा के निर्देशन पर चलने का प्रयास किया जाये। तभी समाज में क्राँति होने की आशा की जा सकती है।

'कंकाल' चरित्र-प्रधान उपन्यास है। परिस्थितियाँ लेखक ने चरित्र-चित्रण के लिये प्रस्तुत की हैं। लेखक किसी विशेष अभिप्राय को लेकर चरित्र-चित्रण-करना चाहता है, इसलिये कहीं-कहीं पर परिस्थितियाँ स्वाभाविक न रह कर कृत्रिम सी प्रतीत होने लगती हैं। लेखक के हाथों में पात्र नाचते से प्रतीत होने लगते हैं। जब जैसी सुविधा होती है पात्र तीर्थ स्थानों पर पहुँच जाते हैं। 'मंगल देव' वहीं पर उपस्थित पाता है जहाँ 'यमुना' जाती है। स्थान-स्थान पर पात्रों का संयोग-मिलन अखरने लखता है और कथावस्तु की स्वाभाविक-सरलता नष्ट हो जाती है। इस उपन्यास के पात्र इन अर्थों में सबल नहीं हैं कि उनका अपना कुछ अस्तित्व नहीं है और उन्हें लेखक के संकेत पर कटपुतली बनना पड़ता है। पात्रों के सिर का भार लेखक ने अपने हाथों में रख कर पात्रों की सजीवता नष्ट कर दी है। यह ठीक है कि इस उपन्यास में उपदेशात्मक प्रवृत्ति नहीं है और चित्रण भी यथार्थवादी है परन्तु यथार्थ का भी लेखक अपनी इच्छानुसार ही स्पष्टीकरण करना चाहता है। इस उपन्यास में कुछ विधिगत-घटनाओं का भी समावेश 'प्रसाद' जी ने किया है। 'माला' को डाके का धन मिल जाना, निरंजन का महाधीश हो जाना, 'चन्दा' का 'श्रीचन्द्र' को आर्थिक-सहायता देना इत्यादि घटनायें इसी प्रकार की हैं। 'प्रसाद' जी के यथार्थवादी-दृष्टिकोण में कुछ आदर्श है और सुधार की भावना भी। वह ऋषभचरण वाला यथार्थवाद के नाम पर व्यभिचारवाद नहीं है और न ही 'उग्र' और 'चतुर्सेन' वाला उच्छ्रृंखलवाद है। यथार्थवाद के विषय में 'प्रसाद' जी ने स्वयँ लिखा है, "कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिये और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक-प्रवचन कर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिये यह आदेश करता है, और यथार्थवादी-सिद्धांत से इतिहासकार के

अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या कैसा था ? किंतु साहित्यकार न तो इतिहास कर्त्ता है, न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं।

साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का प्रयत्न करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध-जगत और आनन्द पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।" इस प्रकार 'प्रसाद' जी की यथार्थवादी और साहित्य-सम्वंधी विचार-धारा बहुत कुछ प्रेमचन्द जी की विचारधारा से मेल खाती है। 'निरंजन,' 'किशोरी' और 'मंगलदेव' के चरित्रों की कमजोरी दिखला कर उनसे पश्चाताप कराने वाली भावना में विशुद्ध आदर्शवाद छुपा हुआ है और जहाँ तक उनका सही-सही चित्राँकन किया गया है, वही यथार्थवाद है। केवल यथार्थवाद के आश्रय पर पाठक को अपनी विचार धारा स्वयं निर्मित करने का अवसर न देकर आदर्शवादी लेखक स्वयँ मार्ग सुझाने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न 'कंकाल' में 'प्रसाद' जी ने भी किया है। प्रेमचन्द ने वेश्या का चित्रण 'सेवासदन' में किया है परन्तु कहीं पर भी कुरुचि को प्रश्रय नहीं मिला। उसी प्रकार इन सामाजिक धूर्तों का चित्रण करने पर भी कहीं 'प्रसाद' जी ने कुरुचि को साहित्य में नहीं आने दिया है। 'दिल्ली के दलाल' या 'दल्लाला' लिखने की प्रेरणा से 'प्रसाद' जी ने इन धूर्त-पात्रों का निर्माण नहीं किया, बल्कि सभ्य-जगत के नेता बनने वाले पौंगा-पंथियों पर कटाक्ष करने के लिये इनकी रचना की है। लेखक के मस्तिष्क में एक महान उद्देश्य है समाज और व्यक्ति के उत्थान का। पतन की लोलुप-लालसा की पूर्ति उसका लक्ष्य नहीं। एक मर्यादा का पालन हमें उपन्यास में आद्योपाँत मिलता है। 'कंकाल' में अश्लीलता

तो उसे वह न जाने कितना बड़ा प्रेम-वर्दान दे डालेगा ? 'तितली' के रूप में 'प्रसाद' जी ने नारी का जैसा सजीव चित्रण किया है उसमें अपने हृदय की सम्पूर्ण सरलता को प्रवाहित कर दिया है। प्रेम की देश, जाति और धर्म की सब पर विजय दिखला कर प्रसाद जी ने 'शैला' और 'इन्द्रदेव' का विवाह कराया है। 'इन्द्रदेव' के परिवार की परिस्थितियाँ चित्रित करके प्रसाद जी ने पारिवारिक-विषमताओं का भी दिग्दर्शन कराया है। 'तितली' पर प्रेमचंद जी के उपन्यास-साहित्य का स्पष्ट-प्रभाव है। 'तितली' का कथानक बहुत व्यापक और विस्तृत हो गया है। इसीलिए इसके पात्रों का चरित्र-चित्रण उतना पूर्ण और सजीव नहीं हो सका है कि जितना होना चाहिए था। कथानक में बहुल्य होने से पात्र अविकसित से रह गये हैं। इस छोटे से उपन्यास में भारतीय समाज के सभ्य चित्र प्रस्तुत करने का लेखक ने प्रयास किया है। भारतीय के साथ-साथ अँगरेज़ी-चित्र भी उपस्थित किये हैं। 'तितली' का विषय बहुत विस्तृत है और 'प्रसाद' जी ने गागर में सागर भरने का प्रयास किया है। 'प्रसाद' जी ने अपनी समस्याओं को जितना समझा है उतना अपने पात्रों को नहीं। पात्रों को समस्याओं के आधार पर नचाया है, खिलाया है, उन्हें आचरण करने के लिये स्वतन्त्र बनाकर नहीं छोड़ दिया है। पात्रों में घुस कर घर कर लेने वाली क्षमता जो प्रेमचन्द जी में मिलती है उसका 'प्रसाद' जी के साहित्य में अभाव है। कथा-वस्तु का संघटन बहुत सुन्दर और निर्दोष है। अनावश्यक कलेवर की वृद्धि नहीं की गई है बल्कि आवश्यक विस्तार में भी संकोच ही किया गया है। निरर्थक भर्ती बिलकुल नहीं है। 'प्रसाद' जी की लेखन-शैली नाटकीय है और इसीलिये वह कहीं-कहीं पर तो विशेष-गम्भीर और रोचक हो गई है। नाटक के ही समान कथा के उत्थान, विकास और परिणाम तथा अन्त का विशेष ध्यान रखा गया है। 'तितली' की कथा का विकास बहुत ही वैज्ञानिक

और कलापूर्ण है, कथा के विभिन्न अंगों में सामंजस्य बिल्कुल बराबर-बराबर मिलता है। कहीं-कहीं पर उपन्यास में कथनोकथन लम्बे भी हो गये हैं, परन्तु बहुत कम स्थानों पर, और वह पाठक को विशेष रूप से खटकने वाले भी नहीं बने हैं।

'प्रसाद' जी के उपन्यासों का कथानक

कथानक के विचार से 'प्रसाद' जी ने भारतीय-समाज को ही अपना कार्य-क्षेत्र चुना है और उसी में से दीन-दुखी, पाखंडी, दुराचारी, धूर्त और साधु, नागरिक और ग्रामीण, धनवान और निर्धन, स्त्री और पुरुष सभी प्रकार के पात्र लेकर अपने कथानक का निर्माण किया है। कथा की अपेक्षा आपका ध्यान सर्वदा उस समस्या पर रहता है जिसे वह अपने उपन्यास में उठाते हैं और उस समस्या के स्पष्टीकरण के लिये कथानक का भी वह बलिदान दे सकते हैं। फिर भी कथानक को 'प्रसाद' जी ने बहुत ही कलापूर्ण ढंग से नाटकीयता के साथ निभाया है। कथा आद्योपाँत एक क्रम-बद्धता के साथ चलती है और कहीं पर भी उसमें छिछलापन या उथलापन नहीं आने पाया। कथा के आदि, विकास और अन्त में 'प्रसाद' जी सफल रहे हैं और कहीं पर भी उसमें कोई त्रुटि नहीं आने पाई। 'प्रसाद' जी की कथा में जो घटनाएँ आती हैं वह बहुत ही स्वाभाविक हैं और ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उनको लाने में लेखक ने कोई विशेष प्रयास किया है। कथा-विस्तार में क्रमबद्धता के साथ इतनी सजीवता रहती है कि उसके हर पहलू एक से एक विशेषता रखता हुआ आगे बढ़ता है।

जयशंकर 'प्रसाद' के औपन्यासिक-पात्र बहुत व्यापक हैं और उनमें समाज के वर्गों को ठूंस कर लेखक ने उनके रूप में समाज के चित्र उपस्थित किये हैं।

'प्रसाद' जी के औपन्यासिक-पात्र

'प्रसाद' जी का कोई भी एक पात्र एक व्यक्ति नहीं है, वह समाज का एक वर्ग है, और उस वर्ग के जीवन की विडम्बना

उस पात्र के चित्रण द्वारा 'प्रसाद' जी ने प्रस्तुत की है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' जी ने सामाजिक-समस्याओं का खोखलापन स्पष्ट करने के लिये पात्रों को वर्गों का रूप देकर उन्ही के मुख से उनका उपहास कराया है। अन्त में अपनी अदर्शवादिता सुरक्षित रखने के लिये उन्हीं के मुख से उनके ही कुकर्मों की क्षमा मँगवाई है। 'प्रसाद' जी के पात्र प्रेमचन्द जी के पात्रों से अधिक व्यापक हैं, परन्तु सजीव नहीं यह सच है कि 'प्रसाद' जी में चरित्र-चित्रण का सूक्ष्म विवेचन नहीं है परन्तु समाज का जो व्यापक दृष्टिकोण और व्यक्ति का प्रसार 'प्रसाद' जी ने प्रस्तुत किया है वह कम लेखक कर पाये हैं। प्रसाद के पात्रों में प्रेमचन्द जी की अपेक्षा कम स्वाभाविकता है। कल्पना का विशेष रूप से आश्रय लेकर 'प्रसाद' जी अपने पात्रों की सृष्टि करते हैं। 'तितली' 'इन्द्रदेव' 'शैला' 'मधुवन' इत्यादि सभी जीवन की कठिन परिस्थितियों में रहकर भी उन्हें कम समझ पाते हैं और लेखक के संकेत पर भावुकता का आश्रय उन्हें लेना पड़ता है। कवि और जो नाटककार होने के नाते भावुकता का 'प्रसादजी' में होना अनिवार्य है। प्रेमचन्दजी ने भी अपने उपन्यासों में पात्रों को वर्गों का प्रतिनिधि बना कर रखा है। 'प्रसाद' जी का इस दिशा में किया गया प्रयास प्रेमचन्द जी से पीछे रह गया है। प्रेमचन्द जी की अपेक्षा व्यक्ति के निर्माण में 'प्रसाद' जी बहुत अधिक सफल रहे हैं।

'प्रसाद' जी की लेखन-शैली प्रेमचन्द जी से सर्वथा भिन्न है। दोनों की भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर है। वास्तव में

'प्रसाद' की शैली

'प्रसादजी' की भाषा उपन्यास और कहानी-साहित्य के अधिक उपयुक्त नहीं थी। प्रसाद जी प्रथम नाटककार है, फिर कवि और अन्त में उपन्यासकार। उनकी तत्सम शब्दों से पूर्ण भाषा लिखने की शैली अपनी विशेषता रखती है, जिसमें गम्भीर से गम्भीर विषय

का प्रतिपादन तो हो सकता था, परन्तु मनोरंजन के विचार से सार्वजनिक-पाठकों के लिए वह संतोष प्रदान नहीं कर सकती। 'प्रसाद' जी की भाषा में कविता की शैली विद्यमान है। भाषा के गम्भीर होने के कारण यह सत्य है कि साधारण पाठक उसमें मनोरंजन प्राप्त नहीं कर सकते परन्तु यह भी सच है कि साहित्य-प्रेमियों के लिये वह विशेष रसास्वादन प्रदान करती है। आपकी शैली में कुछ गम्भीरता और कवित्व की झलक रहती है।

'प्रसाद' का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

कुछ समालोचकों और इतिहासकारों ने 'प्रेमचन्द' जी और 'प्रसाद' जी के प्रथक-प्रथक स्कूल स्थापित कर दिये हैं। केवल भाषा के आधार पर दोनों को प्रथक-प्रथक स्कूलों में विभाजित कर देना कुछ युक्ति-संगत नहीं मालूम देता। एक ही काल में जन्म लेने के कारण दोनों पर एक-सी ही सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। यथार्थवाद के प्रगतिवादी-दृष्टिकोण की तराज़ू पर तौलने से एक भी पूरा नहीं उतरता, परन्तु दोनों ने ही भारत के समाज का यथार्थवादी दिग्दर्शन अपने साहित्य में कराया है। यथार्थवाद को दोनों ने वहीं तक निभाने का प्रयत्न किया है जहां तक उनसे आदर्शवाद को ठेस न लगे। इसलिये कहीं पर भी उच्छ्रंखलता को इन दोनों उपन्यासकारों ने साहित्य में प्रश्रय नहीं दिया है। घृणित वातावरण का संकेत किया अवश्य है परन्तु घृणा के प्रति आकर्षण उत्पन्न होने लगे ऐसी परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न कीं। उग्र, चतुर्सेन शास्त्री या ऋषभचरण की भाषा में जिसे यथार्थवाद कहते हैं, उससे यह दोनों लेखक काफ़ी दूर थे और समाज-सुधार की भावना इनके अन्दर हर समय वर्तमान रहती थी 'प्रसाद'जी ने अपने साहित्य-स्रजन में सर्वदा समाज, राष्ट्र और व्यक्ति की मंगल-कामना को ध्यान में रखा है। साहित्य को वह इतिहास का

विषय नहीं समझते थे और इसीलिए यथार्थ के साथ आदर्श का आना निताँत आवश्यक था। मुंशी 'प्रेमचन्द' जी ने अपने साहित्य को 'आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद' कहा है और यही शब्द हम प्रसाद जी के साहित्य के लिये भी प्रयोग में ला सकते हैं, परन्तु प्रसाद जी का 'आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद' यदि यथार्थवादिता की ओर झुका हुआ है तो 'प्रेमचन्द' जी का आदर्शवाद की ओर अग्रसर हुआ है। प्रेमचन्द जी की अंतिम रचना 'गोदान' में उनकी 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादिता' 'यथार्थवादोन्मुख आदर्शवादिता' की ओर झुक चुका था इस प्रकार 'प्रसाद' जी के उपन्यासों में यथार्थवाद को भुला कर आदर्शवाद की स्थापना नहीं की गई, बल्कि दोनों को निभाते हुए लेखक ने अपने साहित्यिक-दृष्टिकोण को निभाया है। 'प्रसाद' ने प्रेमचन्द जी की भाँति स्थान-स्थान पर अपनी रचनाओं में उपदेशक बनने का स्वप्न नहीं देखा। वह आदर्श की ओर संकेत मात्र करते हैं। उसके स्पष्टी-करण के पीछे पड़कर अपनी कलात्मकता और यथार्थवाद को नष्ट नहीं कर डालते। 'प्रसाद' जी ने 'प्रेमचन्द' जी की अपेक्षा अपने पाठकों को अधिक स्वतंत्रता-पूर्वक विचार करने का अवकाश दिया है। 'प्रसाद' जी मानवता के प्रेमी थे और देश काल को समझते हुए आप मानव के विकास में प्रगतिशील थे। समाज और व्यक्ति के चित्रण के साथ-साथ 'प्रसाद' जी ने जो मानव के अंतर्द्वंदों का चित्रण किया है वह अद्वितीय है। आपने इतने सुन्दर शब्द चित्र अंकित किये हैं कि साकार प्रतिमाएं सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। आपने इन अंतर्द्वंदों को घटनाओं पर प्रधानता देकर उपन्यास में उन रहस्यों का उद्घाटन किया है कि जिनका चित्रण ऊपर की व्यवस्था को अंकित करने वाला कभी कर ही नहीं सकता। हृदय की व्यापक-भावनाओं का स्पष्टीकरण इसी प्रकार की शैली द्वारा अधिक निखरे रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उपन्यासों के दृश्य-चित्रों द्वारा

'प्रसाद' जी ने जैसा बिम्ब-ग्रहण कराया है वह हिन्दी के अन्य उपन्यासों में नहीं मिलता। इस बिम्ब-ग्रहण में बहुत ही सुन्दर संश्लिष्ट-योजना मिलती है। इन दृश्यों में प्रकृति के सामाजिक और नागरिक सभी प्रकार के चित्र मिलते हैं। यह चित्रण बहुत लम्बे नहीं हैं, इसीलिये सुन्दर और आकर्षक लगते हैं। पाठक का मन इनमें ऊबता नहीं है।

'प्रसाद' जी का एक अधूरा उपन्यास उनकी मृत्यु के पश्चात प्राप्त हुआ था। यह ऐतिहासिक उपन्यास था और इसका नाम 'इरावती' था। दुर्भाग्यवश यह उपन्यास पूरा न हो सका, नहीं तो इसका स्थान हिंदी के ऐतिहासिक-उपन्यासों में बहुत महत्वपूर्ण होता।

इस प्रकार हमने देखा कि 'प्रसाद' जी ने उपन्यास क्षेत्र में भी बहुत सफलता पूर्वक लेखनी उठाई है और अपने साहित्य की क्लिष्ठता को भी उपन्यास-सृजन-क्षेत्र में नमस्कार करके सार्वजनिक पाठकों के पास तक पहुँचने में सहयोग दिया। परन्तु खेद का विषय है कि फिर भी आप प्रेमचन्द जी की तरह इस दिशा एकांगी-ख्याति प्राप्त न कर सके।

(६)

विश्वंभर नाथ 'कौशिक'

(१८६२—१६४५)

[मुन्शी **'प्रेमचन्द'** जी की साहित्य-धारा का पूर्ण-रूपेण अनुगामी, भाषा, भाव, विषय, उद्देश्य और शैली के विचार से, यदि किसी को कहा जा सकता है तो वह विश्म्भर नाथ जी कौशिक हैं। **'कौशिक'** प्रेमचन्द जी के स्कूल की वह प्रतिभा हैं जिसने हिंदी साहित्य को उपन्यास और कहानियों के रूप में अमर-निधि प्रदान की है। कौशिक जी की वर्णन-शैली, कथनोपकथन, पात्रों में सजीवता का संचार करने की कला-कुशलता, उद्देश्य में यथार्थ और आदर्श का समन्वय, साहित्य को सार्थकता प्रदान करना इत्यादि सभी गुण उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी की दैन हैं और उस थाती को कौशिक जी ने अपने साहित्य में संचित कर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है भाषा का चलतापन जो **'प्रेमचन्द'** जी की पाठकों के लिये विशेषता थी, कौशिक जी की शैली में भी पाई जाती है। यह सब कुछ प्रेमचन्द जी से प्राप्त करके कौशिक जी उपन्यास-कला में उनसे और आगे बढ़े हैं और अपनी व्यक्तिगत-विशेषताओं के साथ विश्वसाहित्य की झाँकी आपने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत की है। आगे चल कर हम विस्तार-पूर्वक बतलायेंगे कि किस प्रकार कौशिक जी **'प्रेमचन्द'** जी को पीछे छोड़ कर आगे प्रगति कर गये। **'कौशिक'** जी के उपन्यासों में हमें **'प्रेमचन्द'** जी का अनुभव और पर्यवेक्षण-शक्ति तथा जयशंकर 'प्रसाद' जी की भावुकता का पूर्ण स्पन्दन मिलता है। सामाजिक विकास के साथ

साथ आपने व्यक्तिगत विकास पर भी पूर्ण रूप से ध्यान दिया है। पाठक की हृदय-वीणा के तारों को झंकृत कर लेने वाली जो रागात्मक-शक्ति कौशिक जी के साहित्य में है वह तो 'प्रेमचन्द' जी के ही उपन्यासों में वर्तमान है और जयशंकर 'प्रसाद' जी की ही रचनाओं मे उद्भूत हो पाई है। परिस्थिति की वास्तविकता का दर्शन कराना प्रेमचन्द जी को खूब आता था; परन्तु उनमें डाल कर पाठक को हँसाने या रुलाने की विद्या में जो निपुणता कौशिक जी ने प्राप्त की वह वहाँ वर्तमान न थी। इसका प्रधान कारण यही है कि 'कौशिक' जी एक साथ अपने उपन्यासों में अनेकानेक पात्रों और विविध समस्याओं के झमेले में एक साथ फँसकर उनके स्पष्टीकरण का भार अपने सिर पर लेकर नहीं बैठ गए हैं। आपने अपनी रचनाओं में कम पात्रों और कम समस्याओं को स्थान दिया है और यही कारण है कि आपने न केवल उन पात्रों और समस्याओं को छुआ भर है, वरन् उनको पूर्ण गहराई तक पहुँचाने का प्रयास किया है और उसमें वह सफल हुए हैं। कौशिक जी ने जिस पात्र को भी लिया है उसके विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है और उसके अंतर्द्वन्दों का भी स्पष्टीकरण और समाधान करने का प्रयत्न किया है। इस कला में आपने 'प्रसाद' जी को पीछे छोड़ दिया है।] ✓

'कौशिक' जी के उपन्यास

'माँ' और 'भिखारिणी' यह दो कौशिक जी की अमर-कृतियाँ हैं। 'माँ' उपन्यास में कर्तव्य-निष्ठा 'माँ' और मूर्ख 'माँ' का तुलनात्मक चरित्र-चित्रण 'कौशिक' जी ने ऐसे कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया है कि दोनों की प्रतिभाएँ साकार हो उठी हैं। 'सावित्री' अपने दत्तक-पुत्र 'श्याम' को अपने अत्यधिक लाड-चाव में पाल कर समाज का व्यर्थ-'प्राणी' बना देती है, और 'सुलोचना' अपने पुत्र 'शम्भू' को मानव-समाज का एक हीरा बना देती है। पहिली माँ का प्यार मूर्खता-पूर्ण है जो बालक के लिये विष का काम करता है और दूसरी का स्नेह सात्विक जो उपदेशात्मक

होने से बालक के प्राणों में अमृत का संचार करता है। बालक का बनाना और बिगाड़ना माता के ही हाथों में है, इस सत्य का हल सजीव-चित्रण द्वारा लेखक ने किया है। बाल-काल में बच्चे का मस्तिष्क कच्चा रहता है। उसपर माता के जीवन का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। वह उसे कुमार्ग पर चलने वाला भी बना सकती है और सुमार्ग पर चलने वाला भी।

'माँ'

इस उपन्यास में दो-दो पथ पर चलने वाले बालकों का चित्रण करके लेखक ने अपने लिए समाज के दोनों पहलुओं पर प्रकाश डालने की सुविधा रखी है। 'श्यामू' को 'गोकुल' और 'विश्वनाथ' के साथ वेश्याओं के यहाँ ले जाकर लेखक ने समाज के कलुषित रूप का प्रदर्शन किया है। वेश्याओं में कैसा वातावरण रहता है, इसका सजीव-चित्रण प्रस्तुत किया है। वेश्याओं के स्वभाव का भी अंकन उसमें मिलता है और उनके यहाँ की सभ्यता तथा व्यवहार का भी।

इस उपन्यास में बेगमों की दीन-परिस्थितियों का सजीव-चित्रण लेखक ने किया है। उनकी आज कैसी दुर्दशा है और उनके जीवन में कितना परिवर्तन हो गया है इस पर लेखक ने प्रकाश डाला है। 'कौशिक' जी लखनऊ के समीप रहते थे। इसलिये वहाँ के वातावरण का उनपर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

'शम्भू' का चरित्र कौशिक जी ने बहुत आदर्श-चरित्र रखा है और उसके निर्माण के साथ समाज के ऊंचे सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण किया है। इस उपन्यास में लेखक का ध्यान विशेष रूप से समाज और समस्याओं की ओर आकर्षित न होकर व्यक्ति तक ही सीमित रहा है और 'सुलोचना' के चरित्र-निर्माण में लेखक ने बहुत ही कला-कुशलता और सहृदयता से काम लिया है 'सुलोचना' के चरित्र को और भी प्रभावशाली बनाने के लिये

और पाठकों में उसके प्रति सहानुभूति और आकर्षण पैदा करने के लिए उसके साथ में 'सावित्री' का चित्रण करके कौशिक जी ने विशेष रूप से अपने मनोवैज्ञानिक-दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इस तुलनात्मक-दृष्टिकोण से दोनों ही पात्र अपने-अपने स्थान पर सजीव हो उठे हैं और पाठकों के विशेष-आकर्षण के विषय वन गये हैं। इस उपन्यास में लेखक का आदर्शवादी-दृष्टिकोण है परन्तु चित्रण में यथार्थता को भुलाया नहीं गया और जो पात्र भी इस उपन्यास के लिए लेखक ने चुने हैं उनका चुनाव बहुत सुन्दर और यथार्थवादी है। इस प्रकार के अनेकों पात्र यों ही विना परिश्रम समाज में से उठाये जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण वहुत स्वाभाविक और यथार्थवादी है जिसमें लेखक ने तोड़-फोड़ करने का बहुत कम प्रयास किया है और चरित्रों के विकास में कोई वाधा नहीं उपस्थित की। 'तितली' और 'कंकाल' के पात्रों को 'प्रसाद' जी ने इतनी स्वतन्त्रता नहीं प्रदान की कि जितनी 'माँ' के पात्रों को मिली, यही कारण है कि 'माँ' के पात्र अविकसित नहीं रहे और खूब खुल कर खेले हैं। जीवन का व्यापक दृष्टिकोण उनके सम्मुख रहा है, संकुचित नहीं।

'कौशिक' जी का दूसरा उल्लेखनीय उपन्यास 'भिखारिणी' है, जिसमें एक भिखारिणी के त्याग और अनुरागपूर्णजीवन का उल्लेखनीय चित्रांकन किया गया है। 'जस्सो' भिखारिणी नारी-व्यथा से अभावमय-जीवन की एक साकार प्रतिमा है जिसमें अन्धकार-पूर्ण जीवन में व्यथा का ही साम्राज्य दिखाई देता है। 'जस्सो' का चित्रण इतना सजीव है कि पाठक का हृदय उसकी करुण-कहानी पढ़ते-पढ़ते अनेकों स्थानों पर भारी हो उठता है और उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। 'जस्सो' के फटे पुराने चिथड़ों से ढके हुए हृदय में कितना महान-व्यक्तित्व छिपा हुआ है यह परख लेखक ही कर सकता है।

'भिखारिणी'

उस जरजरित-बालिका के व्यापक-हृदय का मूल्यांकन करना ऊपरी आवरण पर दृष्टि डालने वाले साधारण लेखक का कार्य नहीं। भारतीय-समाज के जन्म और भाग्य की थियेरी की शिकार 'जस्सो' बाल-काल से ही अभाव में पली है। छिछले रोमाँसवादी-समाज के कलंकों की प्रतिमूर्ति 'रामनाथ' 'जस्सो' के जीवन-विनाश का कारण बनता है। 'जस्सो' व्यक्तिगत कमजोरी का शिकार बनती है जिसे एक बार गिर जाने पर सँभालने वाला कोई नहीं मिलता। उसका जीवन अन्धकार-पूर्ण हो जाता है और वह संबल-विहीन संसार से इधर-उधर आश्रय-रहित होकर बढ़ने लगती है। भिखारिणी के जीवन का विकास इस उपन्यास में जितना सजीव कौशिक जी ने किया है उतना हिन्दी के अन्य किसी उपन्यास में नहीं मिलता। भिखारी और भिखारिणी भारतीय समाज का वह अङ्ग हैं जिसका निर्माण प्रारम्भ में दया की प्रतिमूर्ति के रूप में न होकर त्याग की प्रतिमूर्ति के रूप में हुआ था। परन्तु धीरे-धीरे वह त्याग की भावना समाप्त हो गई और समाज के इस अङ्ग ने एक बहुत ही घृणित-रूप धारण कर लिया। प्रारम्भ में भिखारी समाज पर भार-स्वरूप नहीं थे और न ही वह घृणा के पात्र भी समझे जाते थे, बल्कि उन्हें अपने घर भोजन कराकर गृहस्थी अपने को धन्य समझते थे। परन्तु आज परिस्थिति इसके बिल्कुल प्रतिकूल है और इसी प्रतिकूल-परिस्थिति का यथार्थवादी-चित्रण कौशिक जी ने अपने इस उपन्यास में किया है। चरित्र के विकास और कथा-संचालन के दृष्टिकोण से यह उपन्यास कौशिक जी की सर्वसुन्दर कृति है। कौशिक जी की भावुकता इसमें बाँध तोड़कर बह निकली है और कहीं-कहीं पर तो वह भिखारिणी को चित्रित करते समय इतने तन्मय हो गये हैं कि पाठक को भी उन स्थानों को पढ़ते समय उसमें तन्मय हो जाना होता है। इस उपन्यास में भिखारिणी के बहुत सुन्दर शब्द-चित्र लेखक ने प्रस्तुत

किये हैं और उसकी साकार प्रतिमाएँ उपस्थित करने में वह पूर्ण रूप से सफल हुआ है।

कौशिक जी के उपन्यासों में सादगी है और कथावस्तु सीधी-सादी तथा विभिन्न प्रकार के जाल जंजालों से मुक्त है। वह एक कथा लेकर चलते हैं और उसी का आद्योपाँत-निर्वाह करने का प्रयत्न करते हैं। कथा की शाखायें और उपशाखायें बनाने की धुन उनमें नहीं है। कथा में जटिलता और दुरूहता लाकर वह उपन्यास को जटिल और दुरूह बनाना नहीं पसंद करते और व्यर्थ के रहस्य-प्रदर्शन में भी उनकी रुचि नहीं है। साधारण भूमिका को लेकर वह जीवन के एकाँगी चित्र खड़े करते हैं और जो कुछ वह कहना चाहते हैं उसे बहुत सादगी और सरलता पूर्वक कह जाते हैं। जीवन के भावनापूर्ण हृदय-स्पर्शी चित्रण के लिये साधारण घटनाओं और थोड़े से पात्रों द्वारा ही वह अपना काम चला लेते हैं और इस प्रकार संक्षेप में अपने उद्देश्य की पूर्ति से ही उनकी पूर्ण संतुष्टि हो जाती है। 'कौशिक' जी केवल उस विषय पर हाथ रखते हैं जिसका उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान होता है और जिस विषय में वह अधकचरे रहते हैं उसको छूना भी पसंद नहीं करते। व्यर्थ के लिये बहुमुखी प्रतिभा का प्रदर्शन करना लेखक ने नहीं सीखा। 'कौशिक' जी के उपन्यासों में कथा का संचालन बहुत सरल और स्वाभाविक गति के साथ उनके पात्रों द्वारा हुआ है, लेखक का प्रयास उसमें प्रतीत नहीं होता। लेखक ने अपनी ओर से आदर्शवादी-दृष्टिकोण रहते हुए भी, लम्बे चौड़े वर्णन करने की प्रणाली को ग्रहण नहीं किया है। इस लिए कथा के प्रवाह में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। सुन्दर सरल कथावस्तु में अलौकिक उपन्यासों की रचना करके लेखक ने अद्भुत कला का प्रदर्शन किया है। 'प्रेमचन्द' जी के उपन्यासों की

उपन्यासों की कथावस्तु

लम्बी-चौड़ी उपदेशात्मक-प्रणाली का अनुकरण 'कौशिक' जी ने नहीं किया। इसीलिये पाठक पढ़ते-पढ़ते कहीं ऊबता नहीं और विना पढ़े ही उपन्यास के कुछ पन्ने उलट जाने की आवश्यकता उसे महसूस नहीं होती। कौशिक जी के कथावस्तु में घटनाएँ एक क्रम के साथ संघटित होकर इस प्रकार आती हैं कि कहीं पर भी नाँ तो उनमें असंबद्धता ही आ पाई है और न व्यर्थ की घटनाओं का जमाव ही प्रतीत होता है। न कुछ छूट ही जाता है और न कुछ व्यर्थ की ठूंस-ठाँस सी ही प्रतीत होती है। घटनाओं के संघटन में अस्वाभाविकता लेशमात्र भी नहीं दिखलाई देती। कथावस्तु एक मूल कथा ही होती है और उसकी शाखाएँ भी उसी के आश्रित रहकर पनपती तथा चरित्रों को विकसित करती हैं। पात्र घटनाओं को जन्म देते हैं और घटनाएँ पात्रों के विकास में सहायक होती हैं। इस प्रकार 'कौशिक' जी की सम्बद्ध-कथा का पाठक पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है और रचना में स्वाभाविक-कलात्मकता के साथ-साथ सजीवता और वास्तविकता आ जाती है; जिससे जीवन की यथार्थ-प्रेरणा मिलती है और जीवन के रहस्यों का उद्घाटन होता है।

'कौशिक' जी का चरित्र-चित्रण

कौशिक जी ने अपने उपन्यासों में पात्रों का चरित्र-चित्रण-भार अपने ऊपर नहीं लिया। उपन्यास लेखक को स्वयँ चरित्र-चित्रण की जो सुविधा रहती है उसका उपयोग 'कौशिक' जी ने नहीं किया। 'कौशिक' जी ने पात्रों को स्वतन्त्र-रूप से विकसित होने के लिये छोड़ दिया है। पात्रों के व्यक्तित्व को उनकी अपनी घटनाओं और समस्याओं के मध्य स्वतन्त्र रूप से विकसित होने दिया है। पात्रों की आपस की बातचीत, उनके जीवन की घटनाएँ, उनकी परिस्थितियाँ और दैनिक-जीवन के संघर्षों के मध्य ही पात्रों के चरित्रों का विकास हुआ है। यह

विकास बहुत स्वाभाविक और यथार्थवादी है, काल्पनिक नहीं, प्रयास-पूर्ण नहीं। आधुनिक उपन्यास-रचना-शैली में यह रीति सर्वोत्तम मानी जाती है। पात्रों की पारस्परिक बातों में उनके मनोभावों का जितना सुन्दर और यथार्थवादी दिग्दर्शन होता है उतना अन्य किसी रीति से नहीं होता। विश्वम्भर नाथ जी 'कौशिक' ने अपने सभी पात्रों को विकसित करने में समाज का चित्राँकन किया है और अपने पात्रों के-रूप में वर्गों का स्पष्टीकरण किया है। 'माँ' और 'भिखारिणी' के सभी पात्र किसी न किसी सामाजिक वर्ग विशेष के प्रतीक हैं। यह पात्र सामाजिक-परिस्थितियों से निर्मित भी होते हैं और उनका निर्माण भी करते हैं। भिखारिणी 'जस्सो' के पीछे-पीछे उसकी परिस्थितियाँ चलती हैं, वह परिस्थितियों के पीछे नहीं दौड़ती। ठाकुर 'अर्जुनसिंह' के रूप में पुराने ज़मींदार-समाज का लेखक ने चित्र उपस्थित किया है। 'रामनाथ', 'ब्रजकिशोर', 'श्यामनाथ', 'विश्वनाथ', 'गोकुलप्रसाद', 'ब्रजमोहनलाल', इत्यादि सभी किसी न किसी वर्ग-विशेष के प्रतीक हैं। 'यशोदा' के रूप में लेखक ने एक महान-चरित्र का निर्माण किया है और उसके सामने 'रामनाथ' जैसे दुर्बल व्यक्तित्व को रख कर 'यशोदा' के व्यक्तित्व को और भी ऊंचा उठा दिया है। 'जस्सो' के रूप में लेखक ने प्रेम की अलौकिक प्रतिमा हिन्दी-साहित्य को प्रदान की है और लोक-लाज का जो परिमार्जित-स्वरूप उपस्थित किया है वह अपने में अपनी विशेष महानता रखता है।

कौशिक जी कथनोपकथन की प्रवीणता में 'प्रेमचन्द' जी और 'प्रसाद' जी दोनों से आगे निकल गये हैं। 'प्रसाद' जी नाटककार होने पर भी अपने उपन्यासों के कथनोपकथनों में वह सजीवता न ला सके जो कौशिक जी ने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत की है। आपके कथनोपकथन

कथनोपकथन

विशेष रूप से चुस्त और सजीव होते हैं। आप को कथा-वस्तु का प्रवाह कथनोपकथनों से ही प्रारम्भ होता है और कथनोपकथनों में ही समाप्त हो जाता है, इन कथनोपकथनों में कहीं पर भी निर्जीवता नहीं आई। कहीं व्यर्थ का बढ़ाव नहीं पाया जाता, संतुलित-भाषा में संतुलित-शब्दों का जो चित्र आपके पात्र प्रस्तुत करते हैं वह हिन्दी-साहित्य को कौशिक जी की अपनी मौलिक-देन है और उसके लिए आपकी यह दो रचनाएँ हिन्दी में अपना स्थाई स्थान रखती हैं।

इस प्रकार विश्वम्भर नाथ जी कौशिक ने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के उत्थान, प्रगति और उसे समृद्ध बनाने में सक्रिय सहयोग दिया है। आपका साहित्य भी आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद को ही लिए हुए है। सांस्कृतिक मनन-मर्यादा को ठेस पहुँचाकर आधुनिक युग की प्रगतिवादिता का दिग्दर्शन आपने अपने साहित्य में नहीं कराया। आपके साहित्य में समाज-सुधार की भावना अवश्य है और वर्ग-विशेषों का चित्रण भी आपने बहुत सजीव किया है; परन्तु 'प्रसाद' जी वाली कटुता उसमें नहीं पाई जाती। साहित्यिक-सहानुभूति के साथ सरल और मार्मिक-चित्रण करना ही आपका उद्देश्य रहा है। प्रत्येक पात्र और प्रत्येक घटना के साथ आपने सहानुभूति से काम लिया है। किसी भी घटना या पात्र को केवल व्यंग्य अथवा कटुता का प्रदर्शन करने के लिए लेखक ने उपन्यास में स्थान नहीं दिया। 'कौशिक' जी हिन्दी उपन्यास साहित्य के उन अमर कलाकारों में से हैं जिन्होंने बँगला-साहित्य के 'शरत' और 'बंकिम' की भाँति कुछ पात्रों का निर्माण किया है परन्तु आपकी विशेषता यह है कि आपने उन पात्रों और पात्रों की सामाजिक-सुधार विषयक समस्याओं द्वारा अपने उपन्यासों में रागात्मक प्रवृत्ति का संचार किया है और बँगला के कला-

कारों ने सामाजिक-सुधार-विषयक समस्याओं को उपन्यासों में स्थान देते हुए भी रागात्मक-वृत्ति के उत्थान में स्त्री पुरुष के साधारण प्रेम को ही अवलम्ब माना है। इस दृष्टि से हम विश्वम्भर नाथ जी की वर्णन-शैली और कला-कुशलता को उन प्रसिद्ध कलाकारों की निन्दा न करते हुए भी उनके ऊपर स्थान देते हैं। 'माँ' और 'भिखारिणी' जैसे उपन्यास लिख कर 'कौशिक' जी ने उपन्यास-साहित्य में एक नवीनता को जन्म दिया है और मौलिक दृष्टि-कोण सामने रखा है। आपके कथनोपकथन 'प्रसाद' जी के कथनोपकथनों से सुन्दर हैं। आपकी सामाजिक समस्याएँ प्रेमचन्द जी की भाँति केवल समाज-सुधारकों के व्याख्यान नहीं बनने पाईं। आपकी भाषा में प्रांजलता है, चुस्ती है, चलतापन है और उपन्यास विषयक वह सभी गुण वर्तमान हैं जिनके कारण पाठक पढ़ने के लिए लालयित हो उठता है।

(७)

चतुर्सेन शास्त्री

(१८८२—जीवित)

[हिन्दी का उपन्यास-साहित्य हम देख चुके हैं कि किस प्रकार मु० प्रेमचन्द जी, श्री जयशंकर 'प्रसाद'जी और 'कौशिक' जी द्वारा सामाजिक क्षेत्र में लाया गया। उपन्यासों की रचना केवल काल्पनिक-मनोरंजन की पूर्ति का साधन-मात्र नहीं है। इस रहस्य का उद्घाटन इन तीन महा रथियों ने किया और हिन्दी के पाठकों के समक्ष हमारे समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के इतने सुन्दर चित्र उपस्थित किए कि पाठकों को कल्पना से अधिक सौंदर्य सत्य में दिखलाई देने लगा। उन मानवता के चितेरों ने यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में Truth is stranger than Fiction (कल्पना से सत्य में अधिक कलात्मक-सौंदर्य वर्तमान है।) साहित्य कोरी कल्पना से ऊपर उठा है और वह यथार्थवाद के क्षेत्र में प्रगतिशील हुआ। कला कभी निरुद्देश्य नहीं होती, उसमें सर्वदा उद्देश्य वर्तमान रहता है। इसी लिए मुन्शी प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद' तथा 'कौशिक' जी ने जिस उपन्यास-साहित्य का निर्माण किया है उसमें उद्देश्य को कला के साथ स्थान दिया है। इन तीनों लेखकों ने यथार्थवाद को अपनाया अवश्य है, परन्तु किसी उद्देश्य को सामने रखते हुए। कोरा यथार्थ-चित्रण करके समझने और सुधारने की सब जिम्मेदारी उन्होंने पाठकों के ही ऊपर नहीं छोड़ दी है। समाज की बुराई को दिखलाया, उसका मार्ग प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया, अपने कल्पना के उद्देश्य

को आदर्शोन्मुख रखा। इस लेखक-वर्ग में भारतीयता और उसके आदर्शों का पूर्ण रूप से आभास है। इनका यथार्थवाद कभी भी नग्न रूप की व्याख्या नहीं हो सकता था। पाश्चात्य-सभ्यता और साहित्य का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ रहा था। कुछ लेखक कला को कला के लिए और कुछ साहित्य को यथार्थवाद के लिए समझकर समाज के नग्न रूप की ओर झुक पड़े थे।

समाज के काले कारनामों का वीभत्स-रूप यथार्थ से भी चार क़दम और आगे बढ़कर लेखनी-बद्ध करना प्रगति और यथार्थ का मूल साहित्य माना और इस प्रकार अपनी अतृप्त वासना-वृत्तियों का नंगा नाच साहित्य के पटल पर कराया। सामाजिक-रहस्यों को यथार्थवादी-उद्घाटन का नाम देकर इस प्रकार इन लेखकों ने अपनी वासनाओं और मनो-वृत्तियों का चित्रण किया और पाठकों को ऐसा कुत्सित-साहित्य प्रदान-किया कि जिसका अपरिपक्व उठती हुई विद्यार्थी-श्रेणी पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। अधकच्चरे-मस्तिष्क ने इस साहित्य को ग्रहण किया, वासना-प्रधान पाठकों ने इस साहित्य को अमर-साहित्य कहा, भोले-भाले समाज ने धोखे में पड़ कर इसका भी स्वागत किया और उनकी साहित्य के प्रति उमड़ती हुई श्रद्धा और प्रेरणा को ठेस लगी, छोटे बालक बालिकाओं ने इसे पढ़ कर अपने चरित्र को घुन लगा लिया, बस इस प्रकार साहित्य में इस नवीन-प्रगति का प्रचार हुआ। इस धारा के प्रमुख-महारथी ऋषभ-चरण जैन, चतुर्सेन शास्त्री और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं। ऋषभचरण जैन का साहित्य घोर वासना-प्रधान है और उसका उपन्यास-साहित्य में हम कोई विशेष स्थान न समझ कर छोड़ देते हैं। दूसरे व्यक्ति जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता वह आचार्य चतुर्सेन शास्त्री जी हैं; जिनको 'लौह लेखनी का धनी' भी कह कर कुछ आलोचकों ने पुकारा है और साहित्य के प्रत्येक रूप से लेकर दवाइयों के सुन्दर सूची-पत्र और कामकला के भेदों तक के लिखने में आप परम प्रवीण हैं। भाषा आपकी इतनी प्राँजल है कि यदि नीरस से नीरस विषय पर भी लेखनी उठा लेते

हैं तो उसमें जान पड़ जाती है और यही कारण है कि आपने जो कुछ लिखा है उसमें लेखनी के प्रवाह की तो कमी नहीं है परन्तु लेखक के उत्तर-दायित्व का निताँत अभाव है। पाठकों की वासना-वृत्तियों को उभार कर यथार्थवाद के नाम पर समाज का पर्दाफ़ाश करना इस वर्ग के लेखकों का लक्ष था, और उसी लक्ष की पूर्ति आचार्य चतुर्सेन शास्त्री ने की है।]

शास्त्री जी के उपन्यास

आपकी पहिली रचनाएँ 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर-अभिलाषा, और 'आत्मदाह' हैं। इनमें 'हृदय की परख' कोरा कल्पना-प्रधान उपन्यास है, जिसमें मानव-जीवन का चित्रण यथार्थ और आदर्श से बहुत दूर रह कर किया गया है। 'हृदय की प्यास' उपन्यास कुछ ख़ासा बन पड़ा है परन्तु उसमें भी चरित्र-चित्रण, कथावस्तु और समस्या तीनों का ही छिछला दिग्दर्शन मिलता है। इस उपन्यास में आधुनिक शिक्षा की खिल्ली उड़ाई गई है; परन्तु चित्रण कहीं-कहीं पर आवश्यकता से अधिक नंगे हैं। इस उपन्यास की शैली में कोई नवीनता नहीं है परन्तु भाषा सजीव है। लेखक ने सोद्देश्य उपन्यास लिखने का प्रयास किया है परन्तु वह अपने इस प्रयासमें सफल नहीं हो सका है। 'अमर-अभिलाषा' उपन्यास में भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और छै विधवा स्त्रियों की कथाएँ संग्रहीत की गई हैं। शिवनारायण जी श्रीवास्तव ने अपने ग्रंथ 'हिंदी उपन्यास' में लिखा है ''अमर-अभिलाषा' का नाम यदि लेखक ''विधवा-तत्व-दर्शन'' या 'विधवा विवाह मीमाँसा' रखा होता तो अधिक उपयुक्त होता।'' हिंदू-समाज की विधवा-विवाह-विषयक-समस्या पर इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है। विधवा को अपनी वासनाओं का दमन करके इन्द्रियों पर निग्रह करना चाहिये। इस ओर आचार्य चतुर्सेन शास्त्री ने संकेत किया है; परन्तु वासनाओं के प्रबल होने पर विवाह

'अमर अभिलाषा'

कर देना, उत्तम ही नहीं, आवश्यक भी बतलाया है पुस्तक में औपन्यासिक सौंदर्य का नितांत अभाव है। अन्तिम परिच्छेद में शास्त्री जी की लेखनी द्वारा आदर्शों का उपदेशात्मक-प्रतिपादन देखकर "नौसौ चूहे खाने वाली बिल्ली की हज्ज-यात्रा" की स्मृति हो आती है। इस प्रकार इस उपन्यास में विधवाओं का शास्त्री जी ने ऐसा जमाव उपस्थित किया है कि पाठक को शक होने लगता है कि शास्त्री जी अवश्य ही कहीं ना कहीं किसी विधवा-आश्रम के संचालक या प्रधान मंत्री रहे होंगे। फिर भी इस उपन्यास में ग्रामीण बड़ी बूढ़ियों के स्वभाव का अच्छा चित्राँकन किया गया है। सभी विधवाओं की कहानियां पृथक-पृथक, सी प्रतीत होती हैं। यदि शास्त्री जी ने इसे उपन्यास न कहकर कहानी संग्रह कह दिया होता तो अधिक उपयुक्त था। इन सभी कहानियों को घटनाओं का जो रूप लेखक ने देने का प्रयत्न किया है उसमें वह सफल नहीं हो सका है और सब प्रथक-प्रथक सी दिखलाई देकर जरजरित सी प्रतीत होती हैं। इन कहानियों का पारस्परिक संबंध भी अच्छा नहीं बना है। उपन्यास की प्रत्येक कथा स्वतन्त्र है 'कुमुद' और 'मालती' आपस में सखियाँ हैं और 'भगवती' तथा 'नारायणी' बहनें। 'प्रकाश' 'कुमुद' का ममेरा भाई है। सुशीला की कहानी का मुख्यपात्र 'प्रकाश' है। 'सुशीला' और 'कुमुद' की कथाओं को जोड़ने वाला पात्र प्रकाश ही है। 'हरगोविंद' ने 'भगवती' का सर्वनाश किया है, और वही अन्त में 'बसन्ती' को भी भगा लाया है। इस प्रकार इस समस्त उपन्यास की घटनाओं और पात्रों का बाह्यसम्बन्ध ही है आँतरिक कोई सम्बन्ध नहीं। यही कारण है कि उपन्यास में जो सजीवता आनी चाहिये थी वह नहीं आ पाई और भानमती के जोड़े हुए कुनबे की भांति कहीं की ईंट और कहीं के रोड़ों को लेकर इस उपन्यास का निर्माण किया गया है।

इस उपन्यास में यथार्थवाद का वह उग्र रूप मिलता है कि जिसे हम पीछे व्यभिचारवाद का नाम दे चुके हैं। लेखक की अतृप्त-वासना-वृत्ति को संचालित करने के लिये ही इन पाँच-छ विधवाओं की उच्छृङ्खल-कथा का निर्माण हुआ है। विधवाओं की कमज़ोरियों का इस प्रकार नग्न-रूप प्रदर्शित करके यथार्थवाद के नाम पर अश्लीलता और असाधारण काल्पनिकता का शास्त्री जी ने परिचय दिया है। लेखक को जहाँ संकेत मात्र से काम लेना चाहिये था वहाँ पर भी उसने अपनी वासना-तृप्ति के लिये पूर्ण विवरण देने का ही प्रयत्न किया है। भगवती को हरगोविंद के कमरे में भेज कर जब छजिया बाहर से कुन्दी बन्द कर देती है तो शास्त्री जी की वर्णन-शक्ति जागृत हो उठती है और वह सांकेतिक साहित्य को पीछे छोड़ कर विवरण-शैली का आश्रय लेते हैं। यही शास्त्री जी के कुरुचि-पूर्ण साहित्य का दर्शन है। जिस उपन्यास में आदि से अन्त तक अश्लीलता भरी है उसमें समाज-सुधार और उपदेशात्मकता की बात कहना ढकोसलेबाज़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं। सुधारवादी-दृष्टिकोण उपस्थित करने के लिए स्त्रिओं का डेपुटेशन बनाना यथार्थवादी-संसार में कम देखने को मिलता है। प्रकाश, श्याम बाबू, सुशीला, कुमुद आदि पात्रों द्वारा युवक और युवती-समाज के सम्मुख लेखक ने आदर्श उपस्थित किये हैं। प्रकाश का चरित्र अधिक आदर्शवादी होने से यथार्थ-जीवन से सम्बन्ध छोड़ देता है और कोरी कल्पना के संसार में विचरण करने लगता है। प्रकाश का सुशीला को बचा कर अपनी धर्म-बहिन बना लेना आदर्श की बात छौंकने ही के तुल्य है सुशीला से विवाह करने की भावना को लेखक ने पाप माना है; यह बात भी युक्ति-संगत नहीं ठहरती, क्योंकि प्रेम और विवाह को पाप, शास्त्री जी के अतिरिक्त आज तक अन्य किसी लेखक ने नहीं कहा।

इस उपन्यास में उपन्यास-कला का बिलकुल विकास नहीं हुआ। एक अच्छे उपन्यास में तो क्या साधारण-उपन्यास में भी जो रोचकता आनी चाहिए, इसमें वह भी नहीं आ पाई है। उपदेशात्मक-प्रवृत्ति को लेकर यह उपन्यास लिखा गया है। इसकी शैली और अश्लील-विवरणों ने लेखक के इस अभिप्राय को भी नष्ट कर दिया है। ऋषभचरण जैन ने इस उपन्यास को "विश्व साहित्य में गणना-योग्य" बतला कर "सर्वथा-निर्दोष और प्रशंसनीय" कहा है; परन्तु अपनी दृष्टि से प्रथम तो हमें इसे उपन्यास कहने में भी संकोच होता है, क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इसे हम कुछ विधवाओं की कहानियों का संग्रह-मात्र ही मानते हैं। दूसरे इस उपन्यास का यथार्थवाद पराकाष्ठा को पहुँच कर कल्पना के क्षेत्र में घुस गया है और इसमें अस्वाभाविकता आ गई है। पुस्तक में लेखक ने बहुत ही अनुचित और भद्दी भूलें की हैं। लेखक की एक भूल शिवनारायण जी श्रीवास्तव ने पकड़ी है। पृष्ठ ६० पर प्रकाश सुशीला को एक चित्र दिखला कर कहता है, "सुशीला यदि माता जी जीवित होती तो तुम्हें प्यार करतीं। इसका अर्थ यह हुआ कि माता जी का देहावसान हो चुका। फिर पृष्ठ २३८ पर जब सुशीला लाट साहेब के पास डेपुटेशन ले जाने की चर्चा करती है तो प्रकाश की माता आगे आकर कहती है, "मैं सहायता करूंगी" इसका अर्थ यह हुआ कि वह जीवित हैं। इस प्रकार की भूलें शास्त्रीजी जैसे सिद्धहस्त लेखक को शोभा नहीं देतीं। इसी प्रकार वसंतो की कहानी में हरगोविंद और गोविंदसहाय एक ही व्यक्ति के व्यर्थ में दो नाम देना भी लेखक की असावधानी के परिणाम हैं।

'अमर-अभिलाषा' की भाँति 'आत्मदाह' की कथा भी आद्योपाँत विश्रृङ्खल रूप से संघटित की गई है। किसी विशेष कथा-सार को लेकर लेखक ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ नहीं किया। बहुत सी निरर्थक बातों का समावेश इस

'आत्मदाह'

उपन्यास के अन्तर्गत मिलता है। सुधीन्द्र के मित्र हरिप्रसाद, सूर्यकुमार और प्रियवर्मा इत्यादि का चित्रण करके न तो कथा ही प्रसारित होती है और न उपन्यास में ही कुछ बल आता है। 'सुधीन्द्र' को लेकर समस्त उपन्यास का निर्माण किया गया है और उसे आदि से अन्त तक लेखक आपत्तियों का शिकार बनाता चला गया है। उपन्यास की कथा-वस्तु वहुत ही सदोष है और उसमें घटनाओं का समावेश विल्कुल अव्यवहारिक और खींचा-तानी के साथ एकत्रित किया हुआ प्रतीत होता है। 'सुधीन्द्र' की जो दुर्दशा शास्त्री जी ने उपन्यास के अन्त में की है उसे पढ़ने पर मानवता के प्रति घृणा हो उठती है। शास्त्री जी की कल्पना का जो चित्र इस उपन्यास में अङ्कित हुआ है, वह यह मैं नहीं कहता कि यथार्थ-जगत में सम्भव नहीं, परन्तु हाँ, लाख में कहीं एक आध ही देखने को मिल सकता है। इस प्रकार के चरित्र घड़ने से समाज और राष्ट्र का उत्थान होने की अपेक्षा निराशावादी-दृष्टिकोण ही राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित होता है। मानवता की इस प्रकार दुर्दशा करना शास्त्री जी अपने दृष्टिकोण में कहाँ तक उपयुक्त समझते हैं, यह हम नहीं कह सकते। 'अमर-अभिलाषा' की भांति इस उपन्यास में भी कई भद्दी भूलें मिलती हैं। इससे शास्त्री जी के मस्तिष्क की अपरिपक्वता का पता चलता है। शिवनारायण जी लिखते हैं। पृष्ठ ७६ पर बताया गया है कि सुधीन्द्र की छोटी बहिन इन्दु के पति राजाराम तथा लड़की सुधा है। पृष्ठ १०१ पर बताया गया है कि सुधीन्द्र के छोटे भाइयों का नाम क्रमशः रामजस, वीरेन्द्र तथा राजेन्द्र था। परन्तु आगे चलकर रामजस के स्थान पर सदैव राजाराम का प्रयोग हुआ है, एवं वीरेन्द्र के स्थान पर कभी राजेन्द्र और राजेन्द्र के स्थान पर कभी वीरेन्द्र का। माया की मृत्यु के समय वीरेन्द्र की शादी की आयोजना हो रही थी। पृष्ठ ३६२ पर वीरेन्द्र की मृत्यु की

चर्चा है परन्तु पृष्ठ ३६६ पर कहा जाता है कि मधु और राजेन्द्र की मृत्यु ने उन्हें हिला दिया था। पृष्ठ ४४० पर राजाराम फिर असली रामजस हो गए हैं। इन्दु की लड़की का नाम भी सुधा एवं सुधीन्द्र की दूसरी पत्नी का नाम भी सुधा रखा गया है। मानो सुधा के अतिरिक्त अन्य किसी नाम का निर्माण ही शास्त्री जी नहीं कर सकते—इस प्रकार इस उपन्यास में अनेकों भूलें हैं। सदोशता इस उपन्यास में 'अमर-अभिलाषा' से अधिक है और रोचकता कम। उस उपन्यास में फिर भी विधवाओं की कहानियाँ पढ़कर पाठक मन बहला सकता है परन्तु इस उपन्यास में तो शास्त्री जी ने व्यर्थ के लिये ही राष्ट्रीयता छौंकने का असफल प्रयत्न किया है।

शास्त्री जी का अन्तिम उपन्यास "वैशाली की नगर वधू" है जिसका सुना है कि उन्होंने अपने दस वर्षों के अध्ययन के पश्चात्

वैशाली की नगर वधू

स्रजम किया है। इस उपन्यास को शास्त्री जी ने अपनी प्रथम रचना माना है और इसके निर्माण के पश्चात् अपनी पहिली रचनाओं को व्यर्थ कहकर पीछे छोड़ दिया है। इस उपन्यास का सम्बन्ध भारतीय-इतिहास के ६०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक के प्राचीन काल से है। गाँधार में मगध और अङ्ग-प्रदेश तक के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साँस्कृतिक विकास की कलात्मक पृष्ठभूमि इस उपन्यास में लेखक ने प्रस्तुत की है। भारत उस समय अनेकों छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था और कोई भी एकतंत्रात्मक सत्ता नहीं थी। इन राज्यों में गणतंत्रात्मक और राजतंत्रात्मक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्थाएं थीं। वैशाली लिच्छवियों के वज्जीसंघ की राजधानी थी। यह आठ कुलों का संघ था जिनके नाम लिच्छवि, ज्ञात्रिक, वज्जी, विदेह, भोज, उग्र, कौरव और ऐक्ष्वाकु थे। वैशाली के ऐश्वर्य की धाक

उस समय चारों ओर फैली हुई थी। वज्जी गणसंघ का यह नियम था कि गण-प्रदेश की सर्वसुन्दरी कुमारी-कन्या को नगरवधू बनने के लिये बाध्य होना होता था। यह नगरवधू जनपद-कल्याणी भी कहलाती थी। अम्बपाली सामन्त महानामन की पालिता-कन्या अनन्य सुन्दरी थी। गण ने उसे नगरवधू बनाने की घोषणा कर दी। अम्बपाली को बाध्य तो अवश्य होना पड़ा परन्तु उसका हृदय वैशाली के प्रति घृणा और प्रतिहिंसा से भर गया। अम्ब-पाली हर्षदेव की वाग्दत्ता-पत्नी हो चुकी थी। वह वैशाली-विनाश के लिये नगर छोड़कर चला गया। वैशाली के धनिकों में खेलती हुई आम्बपाली अपने कौमार्य-रक्षा की ओर सचेत रहती रही। कथा इसी प्रकार विस्तार पाती हुई चलती है। इस उपन्यास में कथा और उपकथाओं का जमाव बहुत व्यापक है और लेखक ने परिश्रम भी काफ़ी किया है यह मानना ही होता है परन्तु उपन्यास के तूल को बढ़ाने का प्रयास भी कम नहीं हुआ। आकाश-मार्ग से आने जाने के तिलस्मी कारनामे भी इस उपन्यास में दिखलाए गए हैं। इस उपन्यास में देव, दानव, मानव आदि वेद और ब्राह्मण-ग्रंथों में मिलने वाली जातिओं की व्याख्या उपस्थित की गई है। अपने आर्य-जाति के साँस्कृतिक-इतिहास पर भी लेखनी उठाई है। देवों का निवास-स्थान कहाँ था, आर्य किस क्षेत्र पर राज्य करते थे और राक्षस किधर रहने लगे थे, तथा आर्य-जाति के संस्कारों, रहन-सहन और धार्मिक-प्रणालियों पर भी प्रकाश डाला गया है। स्त्रियों के अधिकार, दासों की दशा, समाज का संचा-लन, राज्य की व्यवस्था, बौद्ध और जैन धर्म की प्रतिक्रियाएँ इत्यादि किसी भी समस्या को शास्त्रीजी ने अछूता नहीं छोड़ा है। आपने उपन्यास लिखने की अपेक्षा इतिहास लिखने पर अधिक बल दिया है। शास्त्री जी ने अपने जिस व्यापक-ज्ञान का परिचय इस उपन्यास में देने का प्रयत्न किया है वह कहीं-कहीं पर तो आधु-

निक खोजों के आधार बिल्कुल काल्पनिक ठहरता है। अनेकों ऐसे व्यक्ति और घटनाओं का समावेश एक काल में किया गया है कि जिनको अभी तक इतिहास न मानकर आख्यान ही माना जाता है। बिम्बसार, प्रसेनजित, उदयन, प्रद्योत, गौतमबुध, महावीर, अम्बपाली, बन्धुल मल्ल, बादरायण-व्यास, भारद्वाज, कात्यायन, शौनक, बौधायन, आपस्तम्ब, जैमिनी, शाम्बव्य, औलूक, वासिष्ठ, साँख्यायन, पाणिनि, हारीत, वैशम्पायन, शम्बासुर, हिरण्यकश्यप, पशु पुरी के देवराज इन्द्र इत्यादि का एक ही काल में लाकर कथावस्तु तैयार करना शास्त्री जी की अनोखी सूझ है जिसमें यथार्थ की अपेक्षा वैचित्र्य का ही विशेष स्थान है।

इस उपन्यास में आर्य-जाति के ऐश्वर्य, भोग-विलास और वैश्य तथा शूद्र जातियों की कन्याओं को अपहरण करने की गाथाओं पर भी प्रकाश डाला है और अन्त में यह भी प्रकट किया है कि किस प्रकार राज्य-सत्ता आर्यों के हाथों से संकरों के हाथों में चली आई। संकर आर्य पुत्र और शूद्र तथा वैश्य कन्याओं की संतान थे। यज्ञों में बलि दिये जाने पर किस प्रकार बौद्ध और जैन-धर्म का उदय हुआ; इसके विकास पर भी प्रकाश डाला है। मंदिरों में माँस मदिरा का किस प्रकार दौर चलने लगा था; इसका विस्तृत-विवेचन लेखक ने प्रस्तुत किया है। दासों का क्रय-विक्रय होता था यह लेखक ने बतलाया है। दासों के बाजार का शास्त्री जी ने चित्राँकन किया है। इस वर्णन में शास्त्री जी ने आजकल लगने वाले पशुओं के मेले को भी मात कर दिया है। दासी का खरीदार उसके दाँत देखता है, उसके शरीर के अङ्गों को दबाकर देखता है और अन्त में कहता है, "काम लायक है मालिक! खूब मज़बूत है।"

इस उपन्यास में आर्य-सभ्यता, वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण और क्षत्रिय का महत्व, दूसरी जातियों की स्त्रियों पर बलपूर्वक अधिकार

प्राप्त करना; जिसके फलस्वरूप उनका पतन और बौद्ध-धर्म का उत्थान हुआ; इस प्रकार एक युग आ गया जब देश जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक पतन के गर्त में गिर गया। उसी काल की विश्रृंखल दशा का चित्रण 'वैशाली की नगरवधू' में लेखक ने प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में प्रधानता घटनाओं की है। घटनाओं का संघटन बहुत सतर्कता के साथ लेखक ने किया है। कुछ घटनाएँ इस उपन्यास में ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर देवकीनंदन खत्री जी का स्मरण हो आता है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लिखते समय खत्री जी की आत्मा शास्त्री जी की लेखनी में उतर आई है। कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न लेखक ने घटनाओं के क्रम में अवश्य किया है परन्तु फिर भी कहीं-कहीं पर उनकी चमत्कार-प्रधानता इतनी प्रबल होगई है कि बुद्धि काम करना बन्द कर देती है। इस उपन्यास में गौण कथाओं का जाल-जंजाल इतना सघन उपस्थित हो गया है कि अनेकों स्थानों पर प्रधान-कथावस्तु दब कर अपने महत्व को खो देती है और पाठक सघन जंगल में राही की भाँति भटकने लगता है। इस विशाल-काय उपन्यास का नाम "वैशाली की नगरवधू" शायद लेखक ने इसलिए रख दिया है कि यह नाम उन्हें विशेष आकर्षक प्रतीत हुआ है अन्यथा इसके अन्दर 'वैशाली की नगरबधू' के ही आश्रित होकर उपन्यास की कथावस्तु का प्रसार हुआ हो ऐसी बात नहीं है। पुस्तक के उत्तरार्ध में तो वैशाली की नगरबधू का बहुत कम महत्वपूर्ण चित्रण है और अन्य कई महत्वपूर्ण कथाएँ भी प्रसारित होती हुई चलती हैं। कहीं-कहीं पर तो 'वैशाली की नगरबधू' उन कथाओं के प्रसार में बिल्कुल ही दब जाती है। उपन्यास में अप्रधान कथाएँ इतनी अधिक हैं कि प्रधान कथा का ज्ञान होना ही कठिन हो जाता है। जिस प्रकार 'अमर-अभिलाषा' में विधवाओं का जमाव है ठीक उसी प्रकार इस उपन्यास में 'नगर बधुओं' और

दासियों का बोलबाला है। समानान्तर चलने वाली कथाओं में पाठक उलझ जाता है। उत्तरार्ध में पूर्वार्ध की कथाओं को संकलित करने का प्रयास लेखक ने किया अवश्य है परन्तु उसे सफलता बहुत ही कम मिली है।

इस उपन्यास में लेखक ने काफ़ी शक्तिशाली पात्र चुने हैं और कल्पना के सहारे उनके व्यक्तित्व का निर्माण भी ख़ूब किया है। भारतीय-इतिहास की सभी प्रसिद्ध विभूतियों को शास्त्री जी ने इस प्रकार लाकर एकत्रित कर दिया है जिस प्रकार 'च्यवन प्राश' बनाने वाला वैद्य विभिन्न जंगलों की जड़ी-बूटियों को एक खरल में मिला कर अमूल्य औषधि का निर्माण कर देता है। यहाँ शास्त्री जी की कला-कुशलता की हम दाद दिये बना नहीं रह सकते। इन पात्रों में मानव-सुलभ सबलता और दुर्बलता दोनों का समावेश करके शास्त्री जी इन्हें हमारे जीवन के बिल्कुल निकट ले आये हैं। भारतीय-अतीत को वर्तमान के लिये रोचक बना देने की कला में आप इस प्रकार पूर्ण रूप से दक्ष सिद्ध हुए हैं। 'अम्बपाली' का चरित्र बहुत विकसित है और उसे सबल बनाने का पूर्ण प्रयत्न लेखक ने किया है। अम्बपाली के रूप में शास्त्री जी ने हिन्दी साहित्य के आर्य-युग का वह सबल-पात्र प्रदान किया है जिसने गण-राज्य के मूर्ख-धनिकों की वासना-वृत्ति को जाग्रत करके भी अपने कौमार्य की रक्षा की। इस उपन्यास में जो ऐतिहासिक-वातावरण शास्त्री जी ने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है वह उसमें सफल हुए हैं और संवाद तथा वेश-भूषा और घटनाओं का जो चित्रण किया है उससे प्राचीन-युग की साकार प्रतिमाएँ पाठक के नेत्रों के सम्मुख झूलने लगती हैं। कुछ ऐतिहासिक-शब्दों का भी इस उपन्यास में प्रयोग मिलता है परन्तु कहीं पर भी पुस्तक में उनकी व्याख्या देने का कष्ट नहीं किया गया। यदि ऐसा करते तो पाठकों को समझने और आनन्द-लाभ

करने में सुगमता होती। फिर भी शास्त्री जी की आज तक की रचनाओं में 'वैशाली की नगर वधू' का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है और अनावश्यक तूल देने के पश्चात् भी यह उपन्यास सुन्दर और रुचिकर है। पुस्तक में अशुद्धियां बहुत हैं।

शास्त्री जी के उपन्यासों का ऊपर अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो गया कि क्रमबद्ध और संघटित कथा-वस्तु का निर्माण करने में शास्त्री जी विल्कुल ही असफल हैं और वह अपने उपन्यास की कथा को निर्दोष रख ही नहीं सकते। शास्त्री जी के उपन्यासों में अनेकों कथनाओं का जमाव रहता है और उन कथाओं के साथ-साथ उपकथाओं का भी संमिश्रण वह कर देते हैं जिससे एक क्रमबद्ध कथा का निर्माण नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप कथा विखरी-विखरी सी रहती है। विभिन्न पात्रों के क्रमिक-विकास में भी इससे बाधा उपस्थित होती है और उनका समुचित निर्माण भी नहीं हो पाता। वास्तव में शास्त्री जी जब किसी ग्रंथका निर्माण करने बैठते हैं तो जो कुछ उनके अपने मस्तिष्क में होता है और जो कुछ भी उन्हें इधर-उधर से प्राप्त होता है उस सब को उसमें ठूंसने का प्रयास करते हैं। संतुलित विचारों को क्रमबद्धता के साथ एक लड़ी में पिरोहना विश्वम्भर नाथ जी 'कौशिक' की भाँति इन्हें नहीं आता। प्रेमचन्द जी की तरह अनेकों पात्रों, समस्याओं और घटनाओं को उठा कर तो वह चल पड़ते हैं परन्तु उन्हें अन्त तक निभाना और एक संघटित-कथा का निर्माण करना उनकी शक्ति-सीमा से परे की बात हो जाती है। इस प्रकार कथा के निर्वाह में शास्त्रीजी पूर्णरूप से असफल कलाकार हैं।

शास्त्री जी के उपन्यासों की कथा-वस्तु

पात्रों के चरित्र-चित्रण में शास्त्री जी ने कुशलता से काम लिया है। इनके पात्र सजीव हैं परन्तु उपन्यासों की घटनाओं से अलग-अलग से प्रतीत होते हैं। लेखक अपने पात्रों को कहीं पर

तो आवश्यकता से अधिक यथार्थवादी चित्रित करने का प्रयत्न करता है और कहीं पर वह बिल्कुल ही काल्पनिक से प्रतीत होने लगते हैं। वस्तु और पात्रों के विकास का जो समानान्तर-क्रम एक सिद्ध-हस्त लेखक को अपने उपन्यास में रखना चाहिए वह शास्त्री जी नहीं रख सके हैं। शास्त्री जी के पात्र सामाजिक अवश्य हैं परन्तु समाज के चुने हुए पात्र होते हैं। साधारण पात्रों की साधारण समस्याएँ शास्त्री जी को उपन्यास लिखने के लिये प्रेरित नहीं करतीं। वैशाली की नगर वधू में शास्त्री जी ने कुछ बहुत प्रबल पात्रों का निर्माण किया है। शास्त्री जी के पात्रों में एक बात अवश्य है कि वह निर्भीक बहुत होते हैं और समाज के नियमों पर छा जाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार शास्त्री जी के पात्रों में कुछ अस्वाभाविकता आ जाती है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

शास्त्री जी ने अपने साहित्य में समाज का उच्छृङ्खल-चित्रण करने पर भी उसमें उपदेशात्मकता और उद्देश्यपूर्ति का संदेश देने का प्रयत्न किया है। आदर्श और यथार्थवाद का समन्वय करने का लेखक ने प्रयत्न किया है और इस दिशा में आपने प्रेमचन्द जी का ही अनुकरण किया है, परन्तु आपके वासना-मय-प्रवृत्तियों के विवरणमय-चित्रण की भूख ने आपके आदर्शवाद को खोखला बना दिया है। शास्त्री जी के जीवन और उनके साहित्य में आकाश पाताल का अन्तर है। यही कारण है कि जहाँ भी वह अपनी उपदेशात्मक-प्रणाली को लेकर साहित्य में अवतरित होते हैं वहाँ उपहास सा प्रतीत होने लगता है। शास्त्री जी ने कर्तव्यपरायण-पात्रों की अपेक्षा खल-पात्रों का चित्रण अधिक सफलता से किया है। आपका अंतिम उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' आपके ऐतिहासिक ज्ञान पर प्रकाश

उच्छृङ्खल यथार्थवाद और उपदेशात्मकता

डालता है। इतिहास में कल्पना का जो स्वरूप आपने खड़ा किया है वह वास्तव में सुन्दर है। इस उपन्यास को यदि कुछ और क्रम-बद्ध बनाकर संतुलित-कथाओं और घटनाओं का ही समावेश इसमें होता और कुछ विशेष पात्रों को ही इसमें स्थान देते तो यह उपन्यास शास्त्री जी की एक अमर-कृति बन जाती। परन्तु शास्त्री जी ने अपने ज्ञान-विस्तार की झोंक में गुड़-गोबर मिला कर इसका तूल इतना बड़ा कर दिया है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते कहीं-कहीं पर चन्द्रकांता संतति के भ्रम में पड़ जाता है।

शास्त्री जी की भाषा और शैली

शास्त्री जी की भाषा प्राँजल है और उसमें औपन्यासिक-चित्रण की सजीवता वर्तमान है। आपके वर्णन प्रभावशाली होते हैं और व्यंजना-शक्ति का उसमें अभाव नहीं रहता। एक प्रतिभाशाली-कलाकार होने के नाते साधारण सी बात में जान डाल देना आप जानते हैं। शास्त्री जी की प्रतिभा में मौलिकता है। शिवनारायण जी श्रीवास्तव को शास्त्री जी की भाषा में कोई प्राँजलता नहीं दिखलाई देती परन्तु हम शिवनारायण जी के इस मत से सहमत नहीं हैं। शास्त्री जी की भाषा में कहीं-कहीं पर पछाँहीपन अवश्य आ जाता है परन्तु इससे आपकी भाषा और शैली की प्रभावात्मकता में कोई बल नहीं पड़ता।

"वैशाली की नगर वधू" के पश्चात् हम शास्त्री जी से अन्य सुन्दर रचनाओं की आशा रखते हैं। अब तक की रचनाओं में उनके बहुमुखी ज्ञान की छाप हिन्दी के पाठकों पर काफ़ी पड़ चुकी है और अब हम आशा करते हैं कि शास्त्री जी एकमुखी होकर अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित न कर, हिन्दी साहित्य को अपने परिपक्व-मस्तिष्क, प्राँजल-भाषा-प्रवाह और सुगठित-शैली द्वारा ऐसे उपन्यास प्रदान करेंगे जो कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, भाव-गांभीर्य और मनोरंजन की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की उत्तमतम कृति होंगे।

(८)

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

(१६०१—जीवित)

पिछले अध्याय में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं पर प्रकाश डालते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार यथार्थवाद की आड़ में मनचले लेखकों ने अपनी चाँचल्य-प्रधान एकाँकी शृंगारिक भावनाओं को नग्न रूप देकर देश, समाज और साहित्य का अहित किया। यथार्थवाद के जिस स्वरूप को लेकर बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' जी उपन्यास क्षेत्र में अवतीर्ण हुए वह साहित्य का प्रकृत स्वरूप था, जिसमें मानव की दुर्बलता और सबलता, स्वरूपता और कुरूपता समान्तर रूप से चलती थीं, एकांगी रूप का विवेचन नहीं था। परन्तु पश्चिम के उच्श्रृङ्खल वातावरण का प्रभाव भारतीय जनता पर बराबर पड़ रहा था। बेपर्दगी के साथ-साथ नग्न-रूपता भारतीय-आदर्श और मान-मर्यादा के बाँध को तोड़ कर आगे बढ़ रही थी। कालेज के छोकरे-छोकरियों में विदेशी नग्न-साहित्य के लिए आकर्षण उत्पन्न हो चुका था और इस प्रकार हिन्दी के कच्चे दिमाग़ वाले चुलबुले पाठकों में भी वैसा साहित्य पढ़ने की आकाँक्षा प्रबल हो उठी। समय की इस प्रगति का लाभ उटाकर अपने मनचले विचारों को साकार रूप देने के लिए कुछ लेखक साहित्य क्षेत्र में उतर आये। पिछले अध्याय में शास्त्री जी की रचनाओं पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि उनमें नग्न-चित्रण के साथ-साथ उद्देश्यत्मकता की ठनक कुछ अवश्य थी और इस प्रकार वह सुधारवादी प्रेमचन्द की श्रेणी के लेखकों का ही प्रगतिशील-स्वरूप

साहित्य को प्रदान करना चाहते थे। परन्तु पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' उन सुधारवादी लेखकों की श्रेणी से अपना नाम कटवा कर एक दम मुक्त हो गये। उग्र जी अपनी नवीन उग्र-धारा का निर्माण करना चाहते थे। उनके साहित्य का अपनाने वाला क्षेत्र था कालेज और स्कूलों का विद्यार्थी वर्ग, लड़के और लड़कियाँ। यथार्थवाद के नाम पर अश्लील साहित्य के बन्धन खोले गए, चटपटी भाषा में ऐसे चटपटे साहित्य का निर्माण हुआ जिसे पुत्र और पुत्री, माता पिता से बचकर पढ़ने का प्रयत्न करें और विद्यार्थी अध्यापकों से छुपाकर उनका आनंद लाभ लें। एकाँत में अधकचरे मस्तिष्क को दिल बहलाने का यह एक व्यसन मिल गया जिसके द्वारा मांसिक क्रियाओं और प्रति-क्रियाओं के बंधन खुल गये। शतरंज और ताश खेलने की अपेक्षा ऐसे नाविल पढ़े जाने लगे और चन्द हसीनों के खुतूत का विद्यार्थी-वर्ग ने दिल खोल कर स्वागत किया।

'उग्र' जी हिन्दी साहित्य के प्रतिभाशाली लेखक हैं, जिनकी लेखनी में बल है, जिनकी प्रतिभा में मौलिकता और विधायिनी शक्ति है, जिनके मस्तिष्क में अनुभूति है और जिनके काव्य में सरस व्यंजना। पाठकों के हृदय पर साम्राज्य स्थापित कर लेना उग्र जी को आता है परन्तु इन सभी गुणों का प्रयोग 'उग्र' जी ने जिस धारा में किया वह लोक-प्रिय नहीं कही जा सकती और समाज तथा राष्ट्र पर उसका प्रभाव भी अच्छा न हो कर बुरा ही पड़ता है। 'उग्र' जी ने वेश्यालय, मदिरालय और इसी प्रकार के दलित वर्ग में जाकर परिस्थितियों को परखा और अध्ययन किया परन्तु उस परख और अध्ययन के पश्चात् उसकी साहित्य में जो प्रतिक्रिया होनी चाहिये थी। उसका स्वरूप खड़ा न करके उग्रजी ने ज्यों का त्यों उसे चित्रित करने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व और साहित्य को उस घृणित वातावरण की औषधि के रूप में प्रस्तुत करने के स्थान पर एक वह गला-सड़ा अंग बना दिया है जो उस वेश्यालय और मदिरालय से भी अधिक छूतक बीमारी बन गया

है। वेश्यालय और मदिरालय का प्रभाव सीमित होता है परन्तु साहित्य का प्रभाव असीमित है, व्यापक है। इसलिये 'उग्र' जी ने अपनी प्रतिभा से वेश्यालय और मदिरालय के उस घृणित वातावरण को साहित्य में व्यापक-स्थान देकर समाज के साथ घोर अनर्थ किया है और अनेकों मनचले अधकचरे मस्तिष्कों को कुमार्ग पर लगाने में वह सहायक हुए हैं। 'उग्र' जी एक बार उस गर्त में गिर कर फिर बाहर नहीं निकल सके हैं और इस प्रकार आपने अपनी उस अमूल्य प्रतिभा को वासना-प्रधान नग्न [illegible] की ज्वाला में डालकर सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया। यदि 'उग्र' जी उस ज्वाला से बाहर निकल कर मानव के दूसरे पक्ष का भी निरीक्षण कर पाते और फिर समाज के दोनों पहलुओं को समानान्तर रख कर तर्क और बुद्धि-विकास की तराज़ू पर तौलते तो उस साहित्य का निर्माण होता जो हिन्दी साहित्य की अमर सम्पत्ति बन जाता और भारतीय समाज के सम्मुख उसका सही दर्पण प्रस्तुत करने में समर्थ होता। परन्तु खेद का विषय है कि 'उग्र' जी जो एक बार नग्नता की मदिरा के नशे में डूबे तो फिर उभरने का नाम ही न ले सके और ऐसे भँवर में फँसे कि अपनत्व को ही खो बैठे। कला की उपयोगिता को सर्वथा भुला कर केवल वासनामय मनोवृत्तियों को जागृत करना ही साहित्य का लक्ष्य समझकर जो कला-कृतियाँ साहित्य में आईं उनका श्री गणेश 'उग्र' जी ने किया। समाज-सुधार, व्यक्तित्व-निर्माण, सांस्कृतिक-सुधार, राष्ट्रीय-चेतना इत्यादि सभी विचारों की ओर से आँखें बन्द करके जैसे को तैसा और तैसे से भी विकृत रूप में प्रस्तुत कर देना 'उग्र' जी ने अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। 'उग्र' जी ने यथार्थवादी लेखक होने का दावा बड़े ज़ोरदार शब्दों में किया है। वह लिखते हैं, "है कोई माई का लाल.........जो इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है ग़लत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित रोमाँचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं। अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आए, मेरे

कान उमेंठे और छोटे मुँह पर थपड़ मारे; मेरे होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहार के चरणों के नीचे हृदय पाँवड़े डालूंगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूँगा—सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर व्योंत करूंगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिये 'सौगन्ध और औ गवाह की हाजत नहीं मुझे।' 'उग्र' जी ने जो कुछ लिखा है समाज में उस प्रकार के पात्रों का मिलना कठिन है, यह हम नहीं कहना चाहते परन्तु कम अवश्य है और उन कम को साहित्य में स्थान देकर सर्व व्यापक बना देने में लेखक का कौनसा कल्याणकारी उद्देश्य रहा है यह समझने में हम असमर्थ हैं। साहित्य वह प्रगति-शील वायु है जो सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को सर्वव्यापक बना देती है। इसी लिए लेखक का उत्तरदायित्व साहित्य निर्माण करते समय और भी अधिक हो जाता है कि कहीं वह अपने यथार्थवाद की झोंके में दुर्गन्ध का प्रसार न कर बैठे। समाज की घृणित रोमाँचकारी काजल-की तस्वीरें बनाने वाले लेखक में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह साथ-साथ सतर्कता के साथ उसके विपक्षी पहलू को भी ऐसा मान कर पाठक के सम्मुख उपस्थित करें कि पाठक की रुचि घृणित रोमाँस को आकर्षक मानकर उसकी ओर न झुक पड़े। पाठक ईश्वर नहीं हैं। वह कमज़ोर होता है और उस पर साहित्य का प्रभाव पड़ता है। इसलिये सर्वथा ग़लत अथवा सही प्रभाव डालने का उत्तरदायित्व लेखक और उसकी वर्णन-कुशलता पर आश्रित रहता है। पाठक को एक दम मूर्ख समझकर भी लेखक को साहित्य का निर्माण नहीं करना चाहिए परन्तु पाठक को एक दम सर्वव्यापक समझना भी बड़ी भारी भूल है। साहित्यिक पथ-निर्देशक होना चाहिए पथ-भ्रष्टा नहीं। अश्लील साहित्य पाठक के सिर में वह विकार पैदा कर देता है कि जिससे वह पथ-भ्रष्ट होकर नारी का रूप वेश्यालयों में ही देखना पसंद करने लगता है। जब एक ओर वेश्या के बनाव शृंगार और आकर्षका का सजीव वर्णन हो और दूसरी ओर दो-चार स्थानों पर घृणा शब्द का प्रयोग कर दिया जाए तो पाठक घृणा पर

पर्दा डाल कर उस आकर्षण की ओर झुक जाता है और कला प्रेमी बनकर अपने जीवन का सर्वनाश कर डालता है। भारतीय साहित्य में अश्लीलत्व एक बड़ा भारी दोष माना गया है। समाज और जन-रुचि का ध्यान रखना लेखक का परम कर्तव्य है। अश्लील और कुरुचि पूर्ण प्रसंगों को विवरण रूप न देकर सांकेतिक रूप देने में लेखक की कुशलता है। कुरुचिपूर्ण, घृणित तथ्यों का उद्‌घाटन करना कलाकार की कुशलता का लक्षण नहीं माना जा सकता बल्कि मैं तो इसे लेखक की कमजोरी ही कह कर पुकारता हूँ। जब कोई लेखक असाधारण की सृष्टि करके समाज, राष्ट्र और भावना के कल्याणात्मक तथ्यों का कलात्मक और आकर्षक ढंग से निरूपण करने में अपने को असमर्थ पाता है तो वह जीवन के छिछले तथ्यों की ओर लपकता है और उन्हीं के रोमांचकारी चित्रण साहित्य में प्रस्तुत करके अधकच्चरे मस्तिस्कों पर साम्राज्य स्थापित कर लेने में अपनी कला की निपुणता मान बैठता है। यह लेखक की कमजोरी है, उथलापन है और छिछोरापन भी इसे मैं कह सकता हूँ।

उग्र जी के उपन्यास

'उग्र' जी ने जिस साहित्य का निर्माण किया उसे पढ़ कर हिन्दी साहित्य के पैर लड़खड़ाने लगते हैं। इसी काल में अँग-रेजी के रोमांचकारी ग्रंथ 'लंदन रहस्य' का हिन्दी में अनुवाद छपा और उसने 'उग्र' तथा आचार्य चतुर्सेन शास्त्री जैसे लेखकों को पूर्ण रूप से प्रभावित किया। शास्त्री जी की रचना 'अमर अभिलाषा' में वाक्य के वाक्य और पैराग्राफ़ के पैराग्राफ़ लंदन रहस्य में से उठा कर कहूं या चुरा कर रखे हुए मिलते हैं। विस्तार के साथ चुराने या उठा लेने वाली विवेचना को न छूकर हम यहां केवल इतना ही कहेंगे कि 'उग्र' जी का 'दिल्ली का दलाल' उपन्यास लिखना पूर्ण रूप से 'लंदन रहस्य' की प्रेरणा है। 'दिल्ली का दलाल' पुस्तक में जो ब्यौरे और रहस्योद्‌घाटन 'उग्र' जी ने

दिए हैं उनसे 'उग्र' जी की प्रगतिशीलता का आभास तो मिलता है परन्तु वह साहित्य सांस्कृतिक साहित्य में वांछनीय नहीं समझा जा सकता। स्त्रियों का व्यापार करने वाले विचित्र मानवों का इस उपन्यास में चित्रण किया गया है। भले घरानों की वहू बेटियों को किस तरह वहका और फुसला कर भ्रष्ठ किया जाता है और फिर उनका जीवन कैसे सर्वनाश को प्राप्त हो जाता है इसका व्यौरेवार चित्रण इस उपन्यास में यथार्थवादी ढंग से दिया गया है। इस प्रकार का विशद और रोमांचकारी चित्रण इस 'उग्र' जी के उग्र-उपन्यास में मिलता है। परन्तु चित्रण को यदि यथार्थवादी भी मान लिया जाये तव भी यह शिष्टता की सीमाओं को उलंघन कर गया है। इस उपन्यास में नारी जाति को कितना अपमानित किया गया है यह यहां समालोचना के क्षेत्र में भी लिखते हमें लज्जा आती है। इस उपन्यास का एक वर्ग ने स्वागत किया, और अवश्य किया, परन्तु किसी भी स्वस्थ मस्तिष्क धारी ने इसका स्वागत किया हो हमें ऐसा नहीं दिखलाई देता। साहित्यिक महारथियों ने इसे 'घासलेटी साहित्य' कह कर पुकारा। किसी समझदार साहित्यिक ने इस उपन्यास का स्वागत नहीं किया। इसका स्वागत करने वाले हैं ऋषभ चरण जैन जैसे उसी नाली में प्रवाह करने वाले...। साहित्यिकों की समालोचनात्मक बौछारों का 'उग्र' जी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपनी सनक में आगे बढ़ रहे थे। शायद वह अपनी समझ में यह समझ रहे हों कि इस प्रकार के चित्रणों द्वारा वह समाज की रूढ़ियों के बंधनों को तोड़ डालेंगे और इस प्रकार उनके इस नश्तर से समाज का बड़ा भारा हित होगा। इसके पश्चात "बुधुवा की बेटी" में दिल्ली के दलाल जैसी उग्रता तो नहीं थी परन्तु फिर भी शेख जी की दरगाह, मिसेज़ यंग का रंग-रहस्य, मनुष्यानंद की स्त्री का व्यभिचार आदि कुछ कम घृणित नहीं

'सरकार तुम्हारी आंखों में' के अन्दर 'मदन सिंह' की कामुकवृत्ति और सहृदयता तथा पाशविकता दोनों के सजीव चित्र लेखक ने प्रस्तुत किये हैं। "जीजी जी" उग्र जी का नवीनतम उपन्यास है। इस उपन्यास में उग्र जी यथार्थवादी दृष्टिकोण छोड़ कर उसी प्रकार आदर्शवादी हो गये हैं जिस प्रकार चतुर्सेन जी वैशाली की नगर वधू लिखते समय यह कह जाते हैं कि उनका पिछला साहित्य "वैशाली की नगर बधू" लिखने पर व्यर्थ हो जाता है। 'जीजी जी' उपन्यास में एक आदर्श संयमशील गृहणी की सहनशीलता पराकाष्ठा को पहुँच गई है। दुश्चरित्र पति की गाली गलौज, मार पीट सहन करना और फिर अपने दुर्भाग्य को सहन करते हुए मर मिट जाना इस पात्र की विशेषता है। 'जीजी जी' का चरित्र चित्रित करके 'उग्र' जी ने प्राचीन भारतीय आदर्शों की देवि का चित्रण किया है। 'जीजी जी' की भूमिका में 'उग्र' जैसे लेखक ने नारी स्वातंत्र्य का खंडन करते हुए उसे पुरुष क्षेत्र से प्रथक रखा है। स्त्री के पुरुष-क्षेत्र में आजाने से सामाजिक अशांति का भय है। इस उपन्यास में प्राचीन रूढ़ियों का ही प्रतिपादन मिलता है। इस प्रकार इस उपन्यास में 'उग्र' जी की विचार धारा एक दम उलटी लौट पड़ी है।

'उग्र' जी के उपन्यासों का प्रधान विषय व्यक्ति और समाज है। दोनों के ही विशेषण में 'उग्र' जी ने कटु व्यंग से काम लिया है। किसी भी वस्तु की धज्जियां बिखेर कर रख देना 'उग्र'जी के लिये साधारणसी बात है, नवीन युग की प्रगतिवादी उच्छ्रंखल धारा का प्रभाव उग्र जी के मस्तिष्क और हृदय पर इतना भारी पड़ा है कि उन्होंने जिस किसी भी पात्रअथवा घटना का विश्लेषण किया है वह भावुकता से न होकर कटुता और व्यंग्य से हुआ है। समाज की दुर्बलताओं का खाका उड़ाना ही 'उग्र' जी के

उग्र के उपन्यासों की विचार धारा

विचार से समाज सुधार का मार्ग है। व्यंग्य द्वारा पात्रों की सुधारवादी नीति असफल सिद्ध हुई है और किसी भी प्रकार वह समाज अथवा मानव को मंगलमय स्वरूप दिखलाने में सफल नहीं हो पाये हैं।

'उग्र' जी के उपन्यासों का कथावस्तु बहुत क्रमबद्ध और संघटित होता है। जिस किसी कथा को भी वह लेकर चलते हैं उसका ब्योरेवार चित्रण करते हैं और व्यर्थ आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी की भांति इधर उधर की उपकथाएँ मिलाकर उसका प्रभाव नष्ट नहीं कर डालते। 'उग्र' जी जिस कथा को भी अपने उपन्यास में स्थान देते हैं उसकी घटनाओं से पात्रों के चरित्र चित्रण को बल मिलता है और उपकथाओं तथा पात्रों के विकास से प्रधान कथा का निर्माण होता हुआ चलता है। 'उग्र' जी के उपन्यासों की कथा रोचक तो होती ही है साथ ही वह इतनी ब्योरेवार रहती है कि कहीं पर भी अपूर्ण सी नहीं मालूम देती। समय, स्थान और घटना का ऐसा मेल करा कर कथा का निर्माण होता है कि उसका सजीव चित्रण नेत्रों के सम्मुख उतरता चला आता है।

'उग्र' जी के उपन्यासों की कथावस्तु

'उग्र' जी ने कुछ बहुत सबल पात्रों की अपने उपन्यास में सृष्टि की है, परन्तु श्रेष्ठ पात्रों की अपेक्षा आप खल पात्रों के निर्माण में अधिक सफल रहे हैं। पात्रों के बाह्य चित्रण में आपने विशेष रूप से दक्षता प्राप्त की है। मांसिक उथल पुथल और मांसिक विवेचनाओं के स्पष्टीकरण में आपको वह सफलता नहीं मिली जो बाह्य विशेषताओं के दिग्दर्शन में प्राप्त हुई। वास्तव में 'उग्र' जी ने जिन परिस्थितियों का चित्रण किया है उन परिस्थितियों के अन्दर घुसने का तो प्रयत्न किया है

'उग्र' जी के उपन्यासों का चरित्र-चित्रण

परन्तु उन परिस्थितियों में घुस कर उनके पात्रों की क्या दशा होती है और वह क्या अनुभव करते हैं इसका चित्रण करने में वह असफल रहे हैं । इस प्रकार वह पात्रों के वर्गों का तो अच्छा चित्रण कर सके हैं परन्तु व्यक्तियों का सजीव चित्रण नहीं कर सके । व्यक्तिगत पात्रों की अपेक्षा वर्ग-गत पात्रों का सफलतापूर्वक चित्रण 'उग्र' जी ने किया है । 'उग्र' जी के उपन्यास विशुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं जिनकी कथावस्तु भी लेखक ने पूर्ण क्रम के साथ संगठित करके रखी है।

'उग्र' जी की भाषा और शैली

'उग्र' जी की भाषा बहुत सजीव और प्रांजल है। उनका प्रत्येक शब्द सार्थक होता है और भाषा में इतना बल रहता है कि जो कुछ भाव वह व्यक्त करना चाहते हैं वह उनकी भाषा में वर्तमान रहता है । भाषा में विशेष शक्ति और सजीवता रहती है। जिस बात को भी 'उग्र' जी प्रचारित करना चाहते हैं वह इतनी सबलता से कही जाती है कि कानों में बज उठती है। प्रगल्भ-भाव-व्यंजना और भावावेश इनकी भाषा शैली में वर्तमान रहता है। अपने भावों को व्यक्त करने के लिये जिस शब्दावलि का प्रयोग 'उग्र' जी को करना चाहिए वह 'उग्र' जी जानते हैं। आपकी भाषा में अलंकार-रमणीयता पाई जाती है और शब्द ध्वनि का विशेष ध्यान रहता है। कहीं कहीं पर तो 'उग्र' जी इतने सुन्दर और परिचित उपमानों का प्रयोग करते हैं कि भाषा को चार चांद लग जाते हैं और भाषा बोल उठती है। 'चन्द हसीनों के ख़तूत' की भाषा इतनी प्रांजल और कथा इतनी रोचक है कि पाठक एक बार उसे प्रारम्भ करके समाप्त करने से पूर्व भोजन के लिए नहीं उठ सकता । चित्रणों में सजीव मोहकता उत्पन्न कर देना 'उग्र' जी के लिये कोई विशेषता नहीं, साधारण बात है।

इस प्रकार हमने 'उग्र' जी के उच्छृंखलता प्रधान यथार्थवादी साहित्य पर एक दृष्टि डाली और अन्त में उनके अन्तिम उपन्यास 'जीजी जी' की आदर्शवादी झलक देखी।

संक्षिप्त 'उग्र' जी का सम्पूर्ण साहित्य हिन्दी के क्षेत्र में क्रांति के युग का द्योतक है और उसने एक नवीन धारा को जन्म दिया, परन्तु वह धारा लोक कल्याण की भावना का प्रतिपादन न कर सकी और यही कारण है कि मानव और समाज के कर्णधार तथा पके हुए साहित्यकार इस धारा का विशेष रूप से स्वागत न कर सके और इसे भारतीय सभ्य-समाज के पाठकों से भी विशेष प्रोत्साहन न मिला। कुछ अध-कचरे विद्यार्थी वर्ग ने इसे अवश्य अपनाया परन्तु वह भी मन बहलावे के रूप में, शुद्ध साहित्य के रूप में में नहीं। वास्तव में साहित्य का यह वासना-मय स्वरूप था जिसके प्रति समाज बहक सकता है, प्रसन्न होकर आकर्षित नहीं हो सकता। किसी को गालियां देकर उसका सुधार करना 'उग्र' जी का सिद्धांत है जिसका सम्मान कुछ विरले 'उग्र' जी जैसे सिर फिरे व्यक्ति ही कर सकते हैं। उग्र जी हिन्दी साहित्य में पानी के बुलबुले की भांति आए, कुछ दिन चमके परन्तु अधिक दिन स्थाई रह सके। 'दिल्लीके दलाल' लिखने वाला व्यक्ति एक दिन 'जीजी जी' भी लिखेगा इसकी हमें स्वप्न में भी आशा नहीं थी। 'उग्र' जी की इस प्रतिक्रिया को हम उनकी हार कहें, उनके साहित्य की हार कहें, उनकी प्रगति की हार कहें या रूढ़िवाद की विजय कहें यह हम स्वयं निर्णय नहीं कर पा रहे हैं, परन्तु फिर भी यह परिवर्तन विचित्र है। 'जीजी जी' लिख कर लेखक ने विचारों की दो दुनियां अपने साहित्य में आबाद की हैं जिनका एक दूसरे से आकाश-पाताल का अन्तर है। अब देखते हैं कि आप किस विचार-धारा में प्रवा-

हित होकर साहित्यिक क्षेत्र में कूदते हैं। हो सकता है कि आप भी चतुरसेन शास्त्री जी की भांति किसी "वैशाली की नगर वधू" का निर्माण करने में जुटे हुए हों। यदि 'उग्र' जी ने ऐसा कोई ग्रंथ लिखा तो वह निश्चय ही शास्त्री जी से सुन्दर वस्तु साहित्य को प्रदान करने में सफल हो सकेंगे, यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

(६)

वृन्दावन लाल वर्मा

(१८८६—जीवित)

[(हिन्दी में उपन्यास साहित्य का निर्माण तिलस्म और जासूसी क्षेत्र से होकर सामाजिक क्षेत्र में आया और समाज के साथ-साथ राष्ट्र का भी चित्रांकन उन उपन्यासों में हुआ।) इसी काल में लेखकों की दृष्टि भारतीय इतिहास के पन्नों पर भी पड़ी और उसमें भी उन्हें चित्रांकन-योग्य सामग्री दिखलाई दी। नाटक साहित्य में ऐतिहासिक विषयों को गौरवान्वित किया गया था। बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने मुगल कालीन और मौर्य कालीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश डाला। जयशंकर प्रसाद जी ने हिन्दी-नाटकों में बौद्ध कालीन संस्कृति का चित्रण किया और साहित्य ने उनका पूर्ण सहृदयता से स्वागत किया। बीते हुए दिनों को मानव आकर्षण पूर्ण समझता है। यह मानव का स्वभाव है। व्यक्ति के हृदय की कोमल वृत्तियाँ पुरातन के प्रति श्रद्धा रखती हैं, यह सत्य भी भुलाया नहीं जा सकता। वास्तव में दूर की वस्तु आप से आप सुन्दर हो जाती है।

उपन्यास जगत में सर्व प्रथम इतिहास के विषयों पर ललचाई हुई दृष्टि डालने वाले भावुक कलाकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा हैं। इतिहास के विषय को कल्पना का आश्रय देकर सजीवता पूर्वक उठाना कोई सरल काम नहीं। लेखक को इतिहास का भी सम्मान करना होता है और कला-प्रियता का भी। दोनों पक्षों को ठीक २ निभा कर चलने वाला ही कलाकार ऐतिहासिक विषयों पर रचना कर सकता है। अतीत के सत्य

का उद्‌घाटन करने में वृन्दावन लाल वर्मा जी पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। इतिहास को काव्य के सांचे में ढालना श्री वृन्दावन लाल बर्मा की प्रतिभा का विशेष गुण है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में केवल इतिहास के वैज्ञानिक सत्य को ही नहीं अपनाया वरन् इतिहास के क्षेत्र में साहित्य की कला-पूर्ण कल्पनाओं के चित्र अंकित किये हैं और साहित्य के मन मोहक झीने आंचल में से इतिहास की वह छाया प्रदर्शित की है जहाँ कला और इतिहास का समन्वय होकर कला एक सुन्दरतम रूप में परिवर्तित हो गई है। वृन्दावन लाल जी ने इतिहास को बन्धन मुक्त कर दिया है और काव्य को बंधन में बाँध कर उस लाजवंती का स्वरूप प्रदान किया है जो अपने समस्त सौंदर्य को अपने में समेट कर चित्रित हो जाती है। इतिहास, काव्य और कल्पना का जो सामंजस्य वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है वह अन्य कोई भी लेखक हिन्दी साहित्य में नहीं कर पाया है। वर्मा जी ने कल्पना को बन्धन मुक्त करके नहीं बहाया वरन उसे संयत क्षेत्र में निर्धारित मार्ग पर जीवन की कल्पना न मान कर, जीवन मान कर, चलने के लिए मुक्त किया है। इतिहास सत्य है परन्तु वह अतीत का होने के कारण कल्पना से भी सुन्दर हो उठा है। वृन्दावन लाल वर्मा जी ने इतिहास की टूटी हुई श्रृङ्खलाओं को कल्पना का आश्रय लेकर जोड़ा है, अंधकार पूर्ण युगों का कला के प्रकाश में दिग्दर्शन कराया है और वैज्ञानिक नियमों की कठोरता को भावुकता की तपस्या द्वारा पिघलाकर मोम बना दिया है। प्राचीन युगों के अस्पष्ट और धुंधले के चित्रों को विचारों की तूलिका से रंग कर निखार दिया है। गत इतिहास के समाज धर्म और राष्ट्र के हृदय-ग्राही चित्रण प्रस्तुत करके इतिहास और साहित्य में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है जो मानवता के उत्थान और पतन में बहुत बड़ा महत्व रखता है। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास धाराका प्रवाह बहुत बाद में हुआ। हिन्दी से पूर्व बंगला, मराठी, गुजराती इत्यादि प्रांतीय भाषाओं में अनेकों ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। हिन्दी का उपन्यास

साहित्य बहुत दिन तक वर्तमान युग का ही वर्णन और चरित्र-चित्रण अपना विषय समझता रहा। 'प्रसाद' जी ने अपने अंतिम दिनों में एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखना शुरू किया था परन्तु वह अधूरा रह गया था और उसे पूर्ण करने से पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। उनके पश्चात् किसी ने इस ओर प्रयास नहीं किया। दूसरा प्रयास श्री वृन्दावन लाल जी ने किया और आज के युग में आप ही ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों के सम्राट माने जाते हैं।]

'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'मुसाहबजू', 'झाँसी की रानी', 'कचनार' इत्यादि आपके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इन ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त आपने 'लगन', 'कुंडलीचक्र', 'कभी-न-कभी' 'प्रेम की भेंट', 'प्रत्यागत', 'अचल मेरा कोई' इत्यादि सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। उक्त पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'विराटा की पद्मिनी', और 'झांसी की रानी', विशेष प्रसिद्धि-प्राप्त उपन्यास हैं,

श्री वृन्दावनलाल वर्मा जी के उपन्यास

गढ़कुंडार में चौदहवींशताब्दी के अन्दर बुंदेलखण्ड में होने वाली राजनीतिक क्रांतियों का विवरण दिया हुआ है। वीरत्व के दुरुपयोग में किस प्रकार जुझौत के राजकुमार जूझ मरे इसका हृदयग्राही चित्रण किया है। सोहन पाल बुंदेला अपने द्वारा प्रवंचित होकर इधर-उधर भटक रहा था। उसके साथ उसकी स्त्री, पुत्र सहजेन्द्र, पुत्री हेमवती, मंत्री और मंत्रीपुत्र देवदत्त भी थे। खंगारों के राजा हुरमतसिंह के राजकुमार नागदेव ने हेमवती के सौंदर्य की कथा सुनी हुई थी। हरिचंदेल की गढ़ी में जब यह परिवार ठहरा हुआ था तो नागदेव की उनसे भेंट हुई और यहीं पर वह हेमवती पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया। नाग ने सोहन पाल को सहायता का आश्वासन दिया और

गढ़कुंडार

सोहन पाल सपरिवार कुंडार चला गया। विष्णुदत्त पांडे कुंडार का शुभचिंतक ऋणदाता और उसका पुत्र अग्निदत्त नागदेव का परम मित्र था। इन सब के एक स्थान पर आ जाने से अग्निदत्त की बहन तारा दिवाकर को प्रेम करने लगी अग्निदत्त और खंगारकुमारी मानवती में प्रेम था। मानवती का विवाह मंत्री गोपीचन्द के पुत्र राजधर से ठहरा। नाग ने समय पाकर हेमवती के सम्मुख अपना प्रेम-प्रस्ताव प्रस्तुत किया परन्तु अपने को जाति में ऊंचा समझने वाली राजकुमारी ने उसे ठुकरा दिया। जिस दिन मानवती का विवाह था उसी दिन रात्रि को अग्निदत्त अपनी बहन तारा का वेश बनाकर मानवती को भगाने के लिये उद्यत हुआ। दूसरी ओर नागदेव राजधर आदि को साथ ले हेमवती को उड़ा लेने के लिये तुल गए। दिवाकर की वीरता के कारण नाग को सफलता न मिल सकी। कुमारी को लेकर सहजेन्द्र और दिवाकर कुंडार से भाग निकले। दूसरी ओर नाग ने अग्निदत्त को पहिचान लिया और अन्त में उसे कुंडार छोड़ना पड़ा। अग्निदत्त बुंदेलों से मिलकर बदला लेने को तैय्यार हुआ। बल और छल दोनों का प्रयोग किया गया। हुरमतसिंह के पास सूचना भेजी कि यदि वह सोहन पाल को सहायता का वचन दे दें तो वह अपनी पुत्री दे सकते हैं। विवाह निश्चय हो गया और विवाह के दिन खंगार मदिरा-मद में झूम उठे। जब वह नशे में मस्त थे तो बुंदेले उनपर टूट पड़े। खंगरों की शक्ति का सर्वनाश हो गया। मानवती की रक्षा करते हुए अग्निदत्त और पुण्यपाल मारे गये। सोहन पाल का मंत्री भी घायल हुआ। परन्तु कुंडार पर उनका राज्य स्थापित हो गया। दिवाकर जो कि इस छल-नीति का विरोधी था और बन्दीगृह में पड़ा था, तारा उसे जाकर मुक्त कर देती है और दोनों मिलकर जंगल की तरफ़ चले जाते हैं। इस उपन्यास में हुरमतसिंह, नाग, सोहन पाल,

धीर, विष्णुदत्त, पुण्यपाल और सहजेन्द्र इत्यादि ऐतिहासिक नाम हैं। सोहनपाल का अपने भाई द्वारा राज्य से निकाला जाना विवाह आदि के प्रस्ताव, खंगारों पर मदिरा के नशे में आक्रमण करना और विजय इत्यादि करना ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इस उपन्यास की इस प्रकार सभी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं परन्तु खंगार वंश के विनाश के कारणों में मतभेद है। इस उपन्यास की प्रत्येक घटनाको कल्पना का आश्रय देकर वर्मा जी ने सजीव और सुन्दर बनाया है। 'गढ़कुंडार' का विषय युद्ध और प्रेम है। युद्ध का जितना भी विवरण उपन्यास में आया है वह अधिकांश इतिहास से सम्बन्धित है और रोमांचकारी प्रसंगों का निर्माण वर्मा जी ने अपनी कल्पना के आधार पर किया है। नाग और हेमवती का प्रेम, अग्निदत्त और मानवती का प्रेम और तारा का दिवाकर से प्रेम, इस प्रकार प्रेम की तीन धाराएँ वर्मा जी ने इस उपन्यास में प्रवाहित की हैं। नाग के प्रेमस्वरूप बुंदेलों और खंगारों का युद्ध हुआ और खंगारों का सर्वनाश भी। एकपक्षीय प्रेम किस प्रकार बड़े से बड़े विनाश का कारण बन सकता है इसका यह सजीव उदाहरण है। अग्निदत्त और मानवती का प्रेम दोनों पक्षों की ओर से होने पर भी मानवती के प्रेम में दुर्बलता है, दृढ़ता का अभाव है। अग्निदत्त प्रेम के उन्माद में वेश बदल कर जाता है, अपमानित होता है, और मानवती मौन रह जाती है। यह साधारण लौकिक प्रेम है जिसमें आत्म-समर्पण की यथेष्ट कमी दिखलाई देती है। अग्निदत्त ने तो विशुद्ध प्रेम की मर्यादा का भी उल्लंघन कर डाला है और प्रेम को छुपका-चोरी का सौदा बना दिया है। दिवाकर और तारा का प्रेम आदर्श प्रेम है और दोनों पात्रों का चरित्र भी बहुत उज्ज्वल है। प्रेम दोनों पक्षों में समान रूप से उत्पन्न हुआ, पनपा और पूर्ति को प्राप्त होता है। कर्तव्य-निष्ठता दोनों ओर समान है और

पवित्रता भी। 'गढ़कुंडार' एक बड़ा उपन्यास है जिसमें कितनी ही घटनाओं का समावेश है, कुछ ऐतिहासिक और कुछ काल्पनिक, उपन्यास के प्रकरणों के नाम मुख्य पात्रों अथवा मुख्य घटनाओं के नाम पर दिए गए हैं। घटनाएँ जितनी भी इस उपन्यास में आई हैं वह सब सार्थक हैं और केवल उपन्यास का तूल बढ़ाने के लिये ही संघटित नहीं की गई हैं। घटनाओं का क्रम भी बहुत क्रमबद्ध और सुन्दर है। इस उपन्यास में बुंदेलखंड के वातावरण का यथातथ्य चित्रण लेखक ने किया है। वर्मा जी ने कुछ बुंदेलखंडी शब्दों का भी प्रयोग इस उपन्यास में किया है, जो उन शब्दों का सही अर्थ जानने वालों के नेत्रों के सम्मुख एक चित्र उपस्थित कर देते हैं। यदि उपन्यास के अन्त में वर्मा जी उन शब्दों की कुछ व्याख्या दे डालते तो पाठकों का पर्याप्त हित होता। जैसे 'भरका' और 'सूड़ा' शब्दों को पढ़कर उनका सही अर्थ समझ लेना सभी पाठकों के लिये कठिन और अरोचक है। 'गढ़कुंढार' में पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत सजीव है और 'वर्गीय-पात्र' तथा 'व्यक्तिगत-पात्र' दोनों ही प्रकार के चरित्रों को लेखक ने इसमें बहुत कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। बुंदेला और खँगार जातिओं के प्रतिनिधि-पात्र अपनी-अपनी जाति के गर्व की सभी विशेषताओं को लेकर उपन्यास में आए हैं। जाति-गौरव के सम्मुख यह पात्र मर मिटना पसंद करते हैं परन्तु आन को बट्टा लगाना पसंद नहीं करते। बात की बात में रक्त बह निकलना और तलवारें खिंच जाना इनके लिये खेल है, मज़ाक है। बुंदेलखंडी गौरव की रक्षा के लिए ही हेमवती अग्निदत्त का प्रेम-प्रस्ताव उस समय अस्वीकृत कर देती है जब कि वह और उसका समस्त परिवार, नाग का आश्रित है। इस प्रकार के वर्गीय पात्रों के प्रतीक स्वरूप हम सोहन पाल, पुण्यपाल, सहजेन्द्र, हेमवती इत्यादि को ले सकते हैं। खँगारों में हुरमतसिंह यह

अनुभव करता है कि वह बुंदेलों से कुछ नीचा है, इसी लिये वह स्थान-स्थान पर क्षत्रिय होने का दावा करता है। यह भी वर्गीयता का ही प्रमाण और उसकी विशेषता है कि वह अपने अन्दर हलकापन अनुभव करता है। सोहन पाल जब कि उनका आश्रित था, उस समय उसके घर पर आक्रमण करना, क्षत्रिय-गुणों के विपरीत था, खंगारों का हलकापन इस कार्य से भी स्पष्ट हो जाता है। मानवती का प्रेम भी हलका है। खँगारों का मदिरा पीकर मस्त हो जाना और अपना सर्वनाश करा लेना भी उनके हलकेपन का ही द्योतक है। खंगारों में एक भी पात्र वर्मा जी को ऐसा नहीं जचता जिसे कि वह पाठकों की सहानुभूति के योग्य बना डालते। व्यक्तिगत पात्रों में तारा और दिवाकर अपना विशेष स्थान रखते हैं और पुस्तक के अंत में जाकर तो वह पाठकों के विशेष आकर्षण के पात्र बन जाते हैं। इन दोनों का व्यक्तित्व बहुत ऊंचा और प्रबल है। उन पर किसी अन्य व्यक्ति के जीवन का प्रभाव नहीं पड़ता और वह अपना जीवन-मार्ग स्वयं निर्धारित करते हैं। तारा त्याग की मूर्ति है और वह जातीय बन्धनों से अपने को मुक्त करके दिवाकर को मुक्त कराती है। दिवाकर अपने पिता के भी विरुद्ध विचार रखकर कारावास की यातना सहन करना स्वीकार करता है परन्तु अपने सिद्धांत से नहीं गिरता। दिवाकर अपने आदर्श का पक्का व्यक्ति है जिसके भावुक हृदय में तारा के लिये महान् श्रद्धा और अगाध प्रेम है। तारा और दिवाकर का प्रेम विशुद्ध सात्विक और त्यागपूर्ण है। हरिचंदेल, अर्जुन कुमार और इब्रकरीम के चरित्रों का भी सुन्दर विकास हुआ है। इस प्रकार उपन्यास के सभी पात्रों को लेखक ने पूर्ण विकास तक पहुँचाया है।

भारत के क्षत्रिय-युग की खोखली मान-अपमान, अहंकार और गौरव-गरिमा, झूठी आत्म-प्रवंचना की भावना का

साकार चित्रण वर्मा जी ने गढ़कुंडार में किया है। व्यर्थ के जातीय अभिमान और गर्व में फंसकर मानव का रक्तपात करना और तलवारें लेकर जूझना इस इतिहास की आत्मा है। नाग का हेमवती के रूप पर रीझना स्वाभाविक ही है और अपना प्रस्ताव ठुकराया जाने पर उसे भगा लेजाने की भावना का हृदय में पैदा होना खल-वृत्ति है। वह हेमवती को चोरों की भांति हरण करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं विजातीय कन्या से प्रेम कर सकता है उसे भगाने की बात भी सोच सकता है और उसका सक्रिय प्रयत्न भी कर सकता है परन्तु अग्निदत्त और मानवती के प्रेम को सहन नहीं कर सकता, यह उसके चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता है। नाग अग्निदत्त का अपमान कर डालता है और बाल-मित्रता का भी ध्यान नहीं रखता। यदि नाग हेमवती को प्रेम कर सकता है तो क्या कारण है कि अग्निदत्त मानवती को प्रेम न कर सके। इस प्रकार इस उपन्यास में संकीर्ण और व्यापक दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों को सजीव रूप दिया गया है। अग्निदत्त के रूप में प्रतिहिंसा का जो स्वरूप वर्मा जी ने प्रस्तुत किया है वह बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक तथा यथार्थवादी है।

युद्धों का उपन्यास में अच्छा चित्रण है। दृश्य, संवाद और पात्रों की बनावट से विशुद्ध ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने में वर्मा जी पूर्ण रूपेण सफल हैं। उपन्यास के अन्दर सभी चित्रण बहुत सतर्कता से किए गये हैं। यह उपन्यास वर्मा जी की हिन्दी साहित्य को एक अमर देन है जिसने प्रथम होने पर भी स्थाई प्रभाव हिन्दी के पाठकों पर डाला है। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य इस उपन्यास में मिलता है। इतिहास के साथ-साथ प्रेम के तीन सजीव स्वरूपों का जो चित्रण वर्मा जी ने तीन धाराओं में प्रस्तुत किया है वह बहुत आकर्षक है और

पाठक के विशेष मनोरंजन का कारण बनता है। समस्त उपन्यास में न तो कहीं पर ऐतिहासिक तथ्यों के क्रम को ठेस लगने पाई है और न ही कठोर सत्य बनकर कहीं पर उपन्यास कोरा सूखा इतिहास मात्र बन गया है। कल्पना और सत्य की गल-बहियां डालकर इस प्रकार नाटकीय ढंग से वर्मा जी ने चलाया है।

वृन्दावनलाल वर्मा जी का दूसरा उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' है। 'गढ़कुंडार' की भांति यह भी विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है।

विराट की पद्मिनी

किसी क्रमबद्ध इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर यह उपन्यास तैयार नहीं किया गया बल्कि अनेक कालों की घटनाओं को कल्पना का आश्रय देकर एक स्थान पर संघटित कर दिया गया है। कथा-वस्तु पूर्ण रूप से रोमांटिक है। इतिहास द्वारा प्रमाणित न होने पर भी वर्मा जी उन घटनाओं को प्रमाणित मानते हैं। पद्मिनी की कथा भारत में कई प्रकार से प्रचलित है। पात्रों के नाम प्रायः सभी काल्पनिक हैं परन्तु उनका चित्रण समयानुकूल है और उससे उस प्राचीन काल का चित्र आंखों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। यह मुग़ल साम्राज्य का अस्त-काल था। राज्य सिंहासन पर फ़र्रूखसियर था परन्तु राज्यतंत्र का संचालन सय्यद ब्रादर्स करते थे। भारत के अनेकों छोटे-छोटे नवाब और राजे स्वतंत्र होने का स्वप्न देख रहे थे। यह लोग अपने-अपने गुट बना रहे थे। कुछ राजे अपने को स्वतंत्र ही समझने लगे थे। सय्यद ब्रादर्स की मृत्यु हो जाने पर साम्राज्य बिलकुल खंड-खंड हो गया। बुंदेलखंड में महाराज छत्रसाल का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसी अव्यवस्थित काल के वातावरण में वर्मा जी ने कल्पना का आश्रय लेकर 'विराटा की पद्मिनी' की कथावस्तु का संचालन किया है। सामयिक परिस्थिति ऐतिहासिक है परन्तु कथा पूर्णरूप से काल्पनिक ।

उपन्यास की कथा इस प्रकार चलती है कि पालर की रहने वाली 'कुमुद' को जो रूप और लावण्य में अनोखी छटा रखती थी, दुर्गा का अवतार घोषित कर दिया और दूर-दूर के रहने वाले उसके दर्शनों को आने लगे। दिलीप नगर के कामुक राजा नायकसिंह ने देवी की बात सुन कर अपना पड़ाव पालर झील के पास डाल दिया। नायकसिंह का दासी पुत्र कुञ्जरसिंह देवी पर आसक्त हो गया। इसी समय दिलीप नगर के राजा और अली मर्दान में संघर्ष छिड़ गया। युद्ध में देवीसिंह नामक एक बुंदेले ने राजा की प्राण-रक्षा की और वह राजा का स्नेह-भाजन बन गया। कुछ दिन बाद राजा के मरने पर जनार्दन शर्मा के षडयंत्र से देवीसिंह राजगद्दी पर बैठा और लोचनसिंह सेनापति भी उसके आधीन हो गया। इस पर कुंजरसिंह विद्रोही बन कर वहाँ से भाग निकला और इधर-उधर भटकने लगा। अली मर्दान 'कुमुद' की घात में था। 'कुमुद' का पिता उसकी रक्षा के लिए उसे विराटा की गढ़ी में लेकर चला गया। एक पहाड़ी टापू पर जो नदी के बीच में स्थित है, कुमुद रहने लगी। 'कुंजर' भी खोज निकाल कर वहीं पहुँच गया और उसकी रक्षा के विचार से वहीं रहने लगा। दोनों का अब एक दूसरे के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। अली मर्दान विराटा की ओर बढ़ा और देवीसिंह भी। अली मर्दान के सम्मुख 'कुंजर' ने घनघोर युद्ध किया परन्तु अंत में मृत्यु को प्राप्त हुआ। 'कुमुद' बेतवा में कूद पड़ी और इस प्रकार 'कुमुद' और 'कुंजर' की प्रेम कहानी का अन्त हो गया। इस घटना से प्रभावित होकर अली मर्दान ने देवीसिंह से भी संधि कर ली। मृत्यु से पूर्व 'कुमुद' ने 'कुंजर' के गले में अपनी पुष्प-माला डाल कर अपना प्रेम समर्पण किया और इसके पश्चात् दोनों चिर-मिलन की क्रोड़ में चले गये।

इस उपन्यास की कथा सच है या काल्पनिक यह खोज व्यर्थ है। इतिहास में ऐसे पात्र नहीं मिलते। आधुनिक सामाजिक उपन्यासों में भी तो काल्पनिक ही पात्रों को लेकर उपन्यास लिखे जाते हैं। उनमें भी वर्तमान व्यक्तियों को लेकर रचना करना आवश्यक नहीं। उसी प्रकार वर्मा जी ने ऐतिहासिक वातावरण को लिया है और उस काल की परिस्थितियों को चित्रित करने में वह पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। राजे और नवाबों में इस प्रकार के अव्यवस्थित काल में क्या-क्या परिस्थितियाँ उपस्थित हो सकती थीं, उसका सजीव चित्रण 'विराटा की पद्मिनी' में प्रस्तुत किया गया है। इस काल के इतने सजीव पात्र वर्मा जी ने दिये हैं कि वह पाठक के मस्तिष्क और हृदय-पटल पर स्थाई प्रभाव डालते हैं। जिन घटनाओं का वर्मा जी ने निर्माण किया है वह काल्पनिक होने पर भी पाठक के ऊपर सत्य का स्थाई प्रभाव डालती है। घटनायें क्रमबद्धता के साथ संघठित की गई हैं जो कि एक दूसरी की पूरक होती हैं और पात्रों के चरित्र-निर्माण में पूर्ण सहायता पहुँचाती हैं। 'कुमुद' के प्रति सब आकर्षित होते हैं और उसी को लेकर बहुत बड़ा वाद-विवाद चलता है तथा कथा का निर्माण होता है। कथा 'कुमुद' के चारों ओर घूमती है और 'कुमुद' आदि से अन्त तक कथा का प्रधान आकर्षण बनी रहती है। उपन्यास में व्यंग्य को वांछित स्थान प्राप्त है। पात्रों के संवादों और क्रिया-कलापों से यह व्यंग्य प्रस्फुटित होता है। मानव में प्रेम की स्थाई अनुभूति रहती है इस अटल सिद्धांत का प्रतिपादन इस उपन्यास में किया गया है। प्रेम द्वारा मानव में आत्म बल की प्रेरणा होती है और वह कर्तव्य पथ पर बलिदान देने में आनन्द लाभ करता है। 'कुंजरसिंह' और 'कुमुद' इस बलिदान के जीवित उदाहरण इस उपन्यास में वर्मा जी ने प्रस्तुत किए हैं। प्रेम का सच्चा पुजारी नियति चक्र से भी दो-दो हाथ

करता है और अपनी असर साधना के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा कर देने पर भी मुस्कुराता है। प्रेम त्याग की पराकाष्ठा है। अंतिम स्वरूप है जहाँ देने की भावना का जीवन में स्थान और महत्व रहता है, पाने की आकांक्षायें दब जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं, उनका कोई महत्व नहीं रह जाता। अली मर्दान का चरित्र भी 'कुमुद' की ही आत्महत्या का फल है। उपन्यास के सभी पात्र सजीव हैं और अपनी-अपनी व्यक्तिगत विशेषता रखते हैं। राजा नायकसिंह की कामुकता, वीरता और झक्कीपन का बहुत मनोवैज्ञानिक चित्रण वर्मा जी ने किया है। यह राजा अपने सभी कार्यों के विषय में अनिश्चित रहता है। 'कुमुद' को अपनी वासना तृप्ति के लिये यह भी पाना चाहता है। रामदयाल, हकीम जी, जनार्दन शर्मा और लोचनसिंह के चरित्र-चित्रण भी अच्छे हुए हैं। इस उपन्यास में 'कुमुद' और 'कुंजर' के प्रेम का विकास लेखक ने बहुत ही कलात्मक ढंग से किया है। पाठक अन्त में उस समय तक जब कि वह 'कुंजर' के गले में पुष्पमाला डालती है यह नहीं समझ पाता कि वास्तव में वह कुंजर को प्रेम करती भी है अथवा नहीं। 'विराटा की पद्मिनी' का रोमांचकारी चित्रण पाठकों के लिए एक विशेष आकर्षण की वस्तु है।

"झांसी की रानी लक्ष्मी बाई" वर्मा जी का तीसरा उल्लेखनीय उपन्यास है। इस उपन्यास का पाठकों तथा समालोचकों ने अच्छा स्वागत किया। सन् १८५७ के आस-पास के युग का इस उपन्यास में सजीव चित्रण मिलता है और इसमें वर्मा जी ने विशुद्ध ऐतिहासिक तत्वों के निरूपण पर विशेष ध्यान दिया है। घटना अधिक पुरानी न होने के कारण लेखक को सामग्री जुटाने में सुगमता रही है। प्रामाणिक साक्षों के आधार पर वर्मा जी ने इस उपन्यास के कथानक में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि रानी लक्ष्मी बाई के हृदय में स्वराज्य के लिए एक ज्वाला

सुलग रही थी और उसके दर्शन हमें उसके बालाकाल से ही होने लगते हैं। १८५७ की क्राँति में दिया गया सहयोग रानी की उसी बाल्यावस्था से तन-मन में पली हुई स्वतंत्रता की ज्वाला का परिणाम था। रानी ने विवश होकर अंगरेज़ों के विपरीत विद्रोह नहीं किया बल्कि हृदय में स्वतंत्र होने की आकांक्षा रखने कारण किया। झांसी की रानी लिखते समय 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' का लेखक अपने बुंदेलखंडी संकुचित वातावरण से निकल कर भारतीय स्वतंत्रता के व्यापक पथ पर चल निकलता है। उसके कथानक में ३३ करोड़ पराधीन पड़ी भारतीय जनता की चेतना का महान संदेश मुखरित हो उठता है। प्रांतीय भावनाओं से दूर राष्ट्रीय चेतना और संस्कृति का मार्ग वह अपने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। नारी का जो आदर्श वर्मा जी ने अपने गत उपन्यासों में प्रस्तुत किया है उससे कहीं पृथक मार्ग इस उपन्यास में वर्मा जी ने निर्धारित किया है। इस उपन्यास के चार भाग हैं। प्रथम भाग 'उषा के पूर्व' बहुत छोटा है, जो उपन्यास की भूमिका सी प्रतीत होती है। राव गंगाधर (रानी के पति) के इतिहास का इस भाग में चित्रण है। इसके पश्चात् 'उदय' में रानी के शैशव, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, पुत्र की मृत्यु, पुत्र का गोद लेना, रानी का विधवा होना, दत्तक पुत्र का अङ्गरेज़ों द्वारा अस्वीकार कर देना, झांसी पर अङ्गरेज़ों का अधिकार इत्यादि विषय आते हैं। उदय के पश्चात पुस्तक का तीसरा भाग 'मध्यान्ह' आता है जिसमें रानी के सैन्य संगठन, झांसी विजय, नत्थे खां की पराजय इत्यादि का वर्णन है। अन्त में पुस्तक का 'अस्त' भाग आता है जिसमें रानी वीरता पूर्वक लड़ती हुई झांसी में पराजित होती है। फिर काल्पी के पेशवा की सेना लेकर अंगरेज़ों से लड़ना, ग्वालियर पर अंगरेज़ों का आक्रमण, युद्ध में रानी का आहत होना और फिर

बाबा गंगाराम की कुटी में स्वर्ग सिधारना इत्यादि का चित्रण है।

वर्मा जी के इस उपन्यास में उत्तरोत्तर घटनाओं के उत्कर्ष से कथा का प्रवाह बहुत क्रमिक और संतुलित हुआ है। एक घटना से दूसरी घटना को विकास के लिये क्षेत्र मिल जाता है और इस प्रकार कथा सुन्दर और सुचारु रूप से आगे बढ़ती हुई चली जाती है। यह उपन्यास रानी के सम्पूर्ण जीवन की कहानी है जिसमें बचपन से लेकर मृत्यु तक की कथा सविस्तार वर्णन की गई है। उपन्यास दुखांत होता हुआ भी अन्त में अपना आशावादी आदर्श और संदेश छोड़ जाता है। नैराश्य के लिये उपन्यास में कहीं पर भी कोई स्थल नहीं है और कर्तव्य-परायणता तथा राष्ट्र-निर्माण का अमर संदेश इसके शब्द-शब्द से प्रतिध्वनित होता है। रानी की अमर आत्मा मृत्यु में भी विजय का उल्हास पाती है। गुल मुहम्मद के यह शब्द "वो मरा नहीं, वो मुर्दों को जानबख्शता रहेगा" इस उपन्यास की अमर सम्पति हैं जिनमें उत्साह और अमरता का वह संदेश है जो मुर्दों में भी प्राण संचरित करने की शक्ति रखता है। उपन्यास में इतिहास की प्रधानता है और इसके अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं। स्थान और घटनाएँ सभी इतिहास-सिद्ध हैं और विवरणों में भी सत्य की कोरी कल्पना का बल देकर पुष्टि नहीं की गई। यही कारण है कि वर्मा जी की कुशल लेखनी द्वारा काव्य सृजन होने पर भी अनेकों स्थानों पर उपन्यास में इति-वृत्तात्मकता प्रबल हो उठी है और औपन्यासिक तत्वों का अभाव हो गया है। ऐतिहासिक विवरणों के आधिक्य से जहां एक ओर रानी के जीवन का कठोर सत्य प्रबल हो उठा है वहां उसमें से कलात्मकता गौण होती हुई प्रतीत होती है। ऐतिहासिक उपन्यास में यह सच है कि कलाकार इतिहास को भुला कर रचना नहीं

कर सकता परन्तु ऐतिहासिक विवरणों के नीचे दबकर यदि वह काव्य के मूल तत्वों का गला दबोचना प्रारम्भ कर देता है तो काव्य के साथ अनर्थ होने लगेगा। ऐतिहासिक विवरणों की प्रधानता में कला की साधना गौण होकर काव्य की रोचकता को अरोचकता में परिणत कर डालती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार तथ्यों के निरूपण पर बल न देकर पात्रों की चरित्र सृष्टि करता है, पात्रों का निर्माण करता है। तथ्यों के आधार पर, तथ्यों में से शक्ति लेकर, उपन्यासकार पात्रों को बल देता है। उपन्यासकार तथ्यों का निर्माता नहीं, पात्रों की सृष्टि करने वाला है। पात्रों के विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उपन्यासकार पर होता है। इस उपन्यास के कुछ प्रकरणों में हम ऐतिहासिकता का इतना आधिक्य पाते हैं कि यदि उन्हें विशुद्ध इतिहास ही कह दिया जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा। १, २, ८ और ३१ प्रकरणों में इतिवृत्तात्मकता का विशेष रूप से प्रसार मिलता है। वास्तव में घटना इतनी आधुनिक है कि वर्मा जी को अधिकाधिक ऐतिहासिक तथ्य देने पर लाचार हो जाना पड़ता है और यही कारण है कि कुशलता पूर्वक कला की तूलिका इस ऐतिहासिक पटल पर फेरते हुए भी वर्मा जी जैसा दक्ष कलाकार इसमें अधिक सफल नहीं हो पाया है। फिर भी वर्मा जी ने इस कथा का चित्रण बहुत संतुलित रूप में किया है और पात्रों के विकास में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। उपन्यास के वर्णन आद्योपांत सजीव हैं, जिनमें कठोर सत्य भी ऐसा कलापूर्ण ढंग से चमक उठा है पाठक पढ़ता हुआ, विद्यार्थी नहीं बन जाता, पाठक ही रहता है, उसका मनोरंजन होता है और वह रसास्वादन करता है। रानी लक्ष्मीबाई का चरित्र भारतीय राष्ट्र निर्माण की अमर निधि तो है ही परन्तु उसे हिन्दी साहित्य की अमर निधि बनाने और हिन्दी साहित्य को एक इतना बड़ा व्यक्तित्व प्रदान करने

का श्रेय श्री वर्मा जी को है। रानी के जीवन की समस्त ज्ञातव्य बातें इस उपन्यास में लेखक ने संग्रहीत की हैं और उनमें कला की तूलिका से वह सजीव रंग भरे हैं कि पाठक उन्हें पढ़कर रानी का भक्त हो जाता है और भारतीय वीर नारी के आदर्श के सम्मुख सिर झुका लेता है। रानी के जीवन की वह झांकियां उपन्यास में प्रस्तुत की गई है कि जिनके चित्रण से रानी का जीवन साकार हो उठा है। स्त्री सुलभ कोमालता, और पुरुष सुलभ पराक्रम का ऐसा सामंजस्य इस पात्र में स्थापित किया गया है कि पात्र बोल उठा है। रानी के कुश्ती लड़ना, घोड़ा चढ़ना, अस्त्र-शस्त्र चलाना इत्यादि ऐसे बचपन के कार्य हैं कि जिनसे उसके भविष्य के जीवन की झांकी प्रारम्भ में ही मिलने लगती है। सन् १८५७ की महान् क्रांति की नायिका मानकर वर्मा जी ने रानी के चरित्र का निर्माण किया है और नाना तथा तात्या टोपी के सहयोग से अंग्रेजों के विरुद्ध शक्ति संगठन करने में उसका प्रधान हाथ रखा है। रानी असंतुष्ट राजाओं और नवाबों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काती है और अन्त में सैन्य संचालन करती है। रानी अपने काल की राजनीति से सर्वथा भिज्ञ है और वह बहुत व्यवस्थित रूप से उस स्वतन्त्रता संग्राम को छेड़ने और लड़ने का संकल्प कर चुकी है। रानी के जीवन का चित्रण बहुत संयत और संतुलित है। वह आवेश में आकर कोई कार्य नहीं करती। विचारने की उसमें क्षमता है। रानी के जीवन में कभी कभी उत्तेजना भी आजाती है। परंतु वह तुरंत ही बहुत गंभीरता पूर्वक विचारशील हो जाती है। धूर्त अंग्रेज जाति का सामना करने के लिये वह चाणक्य-नीति का प्रयोग करने का संकल्प करती है। रानी भारत को स्वतन्त्र बनाने के लिये कटिवद्ध है और इसीलिए वह अपनी सहेलियों से कहती है, "मैंने अपने कृष्ण के सामने, अपनी आत्मा के

भीतर उसका बीड़ा उठाया है, करूँगी और फिर करूँगी। चाहे मेरे पास खड़े होने के लिये हाथ भर भूमि ही क्यों न रह जाय। मान लो कि मैं सफल न हो पाई, तो भी जिस स्वराज्य धारा को आगे बढ़ा जाऊँगी, वह अक्षय रहेगी।.........जनता सब कुछ है। जनता अमर है। इसको स्वराज्य के सूत्र में बांधना चाहिए। राजाओं को अंग्रेज़ चाहे भले मिटादें, परन्तु जनता को नहीं मिटा सकते। एक दिन आएगा जब इसी जनता के आगे होकर मैं स्वराज्य पताका फहराऊंगी।" वर्मा जी ने इस प्रकार रानी के चरित्र-चित्रण में गांधी जी के जनता-आंदोलनों का भी समावेश किया है और आधुनिकतम विचारधारा को सन् १८५७ के वातावरण में लेजाकर उपन्यास को और भी सजीव बना दिया है। सन् १८५७ के विद्रोह में जनता निर्बल थी, सबल नहीं और उसमें चेतना शक्ति का आभास भी बहुत कम मिलता है। रानी लक्ष्मीबाई ने सफलता पूर्वक झांसी की जनता को उत्तेजित करके अपनी स्वाधीनता और अपने अधिकारों के लिए लड़ने को तय्यार किया। उस जनता को तय्यार करने का जितना बड़ा श्रेय ऐतिहासिक दृष्टि से रानी को है उतना ही बड़ा श्रेय साहित्यक दृष्टिकोण से वर्मा जी को भी है कि उन्होंने जनता की जागृति का साहित्यक क्षेत्र में यह क्रमिक विकास प्रस्तुत किया। वर्मा जी ने रानी के चरित्र में उन गुणोंका समावेश किया है कि जिनके होने से वह रानी के पद से उठकर देवि के आसन को सुशोभित करने लगती है और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में रानी का चरित्र एक ऐसा आदर्श चरित्र बन जाता है कि जिसे हम दैव प्रदत्त कह सकते हैं। रानी प्रजा के हृदयों पर अधिकार रखती थी, उसकी सेना उसके संकेतों पर नाचती थी और वह अपने आदर्श पर मर मिटने के लिए उद्यत थी। रानी का चरित्र अलौकिक है, जिसमें दुर्बलताओं के लिये कहीं पर भी

कोई स्थान नहीं। झूठी भावुकता से वह दूर रहती है और कर्तव्य के मार्ग पर उसका पग निरन्तर आगे ही बढ़ता जाता है। इस उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु रानी है और उसी कीली पर समस्त उपन्यास घूमता है। उपन्यास में तत्कालीन परिस्थितियों का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। कुछ काल्पनिक और कुछ जन-श्रुति आश्रित कहानियों को भी इस उपन्यास में स्थान नहीं मिला है जिनके कारण प्रेम-प्रवाह में कुछ रोचकता और रोमांचकारी वातावरण उपस्थित हो गया है। मोतीबाई और खुदाबख्श का प्रेम, तात्या टोपी और जूही का आकर्षण और नारायण का छोटी भंगिन से प्रेम दिखलाकर वर्मा जी ने उपन्यास के कथानक की शुष्कता को दूर करने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में वर्मा जी पूरी तरह से सफल हुए हैं। यह प्रेम-प्रदर्शन बिल्कुल आदर्श है जिसके कारण कोई भी पात्र अपने चरित्र को कमजोर नहीं बनाता। तात्या और जूही का प्रेम तो एक पक्षीय सा लगने लगता है क्योंकि तात्या को अपनी धुन में प्रेम-प्रदर्शन का अवसर ही नहीं मिलता। मोती अपने हाथ से खुदा बख्श की कब्र खोदती है और बाद में उसकी अपनी कब्र भी उसी के पास खुदती है। जूँ ही अपने हृदय में तात्या के व्यापक प्रेम को लेकर कर्तव्य के पथ पर चलकर ग्वालियर के किले में समाप्त हो जाती है। सुन्दर अन्त तक रानी के साथ रहती है और अन्त में उसी के साथ जलाई जाती है। गंगाधर राव, मोती, मुन्दर, सुन्दर, जूही, तात्या, कलकारी, खुदाबख्श इत्यादि सभी पात्रों का चित्रण वर्मा जी ने सजीवता पूर्ण बड़ी कुशलता से किया है। स्त्री पात्रों पर विशेष ध्यान दिया गया है और इसी लिए उनका विकास भी अच्छा हुआ है। स्त्री पात्रों के नीचे पुरुष पात्र कुछ दब गये हैं और उनकी प्रधानता भी नष्ट हो गई है। उपन्यास की प्रधान पात्र रानी होने से उसकी प्रधान

सहकारिणियां भी स्त्री ही हैं और यही कारण है कि उनके विकास पर लेखक की दृष्टि आवश्यकता से अधिक गई है। पुरुष पात्र तो केवल युद्ध के समय सामने आते हैं अन्यथा नारी पात्रों द्वारा ही उपन्यास का कथानक प्रवाहित होता है। राव गंगाधर का चरित्र लेखक ने जहां एक ओर चिड़चिड़ा, कठोर और न्यायशील दिखलाया है वहां दूसरी ओर उसमें सहृदयता, दान प्रियता, उदारता इत्यादि का भी समावेश किया है। आत्म संचय और कार्य-निष्ठता की ओर लेखक ने विशेष ध्यान दिया है और इसीलिए इन गुणों का समावेश उन्होंने हर उस पात्र के जीवन में किया है, जहां वह कर सकते हैं। कुछ मुसलमान पात्रों को रखकर वर्मा जी ने हिन्दू मुस्लिम एकता और राष्ट्रीयता के नवीनतम दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार इस उपन्यास के सभी पात्र पूर्णरूप से सजीव हैं और रानी का चरित्र विकास की कसौटी है।

सन् १८५७ के आस पास-भारत की क्या दशा थी ? अंग्रेज़ों की छावनियां किस प्रकार पड़ी रहती थीं। झांसी में किस प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे। शहरों में किस प्रकार पेंठ लगती थीं और उनमें किस प्रकार आस-पास के बुंदेल खंडी लोग आकर बातचीत करते थे। इस प्रकार के सामयिक वातावरण को वर्मा जी चित्रित करने में पूर्णरूप से सफल हुए हैं। आपने उस काल के राष्ट्र, शासन-सत्ता और समाज का चित्र उपस्थित करने में पूर्ण कुशलता से काम लिया है और यही कारण कि इन विवरणों की पूर्णता में कहीं-कहीं पर कलात्मकता को ठेस लग गई है। युद्धों का वर्णन और किलों की मोर्चेबन्दी का चित्रण बहुत सजीव हुआ है। भारतीय आदर्शों की स्थापना करते हुए इस उपन्यास की घटनाओं, पात्रों और कथानक का निर्माण हुआ है, जिसमें सत्य को कल्पना के करों में सजाकर मूर्तिमान रूप

दिया है। उपन्यास इतिवृत्तात्मकता की कमी को छोड़ कर शेष सभी दृष्टिकोणों से सफल है और हिन्दी साहित्य को वर्मा जी की सुन्दरतम देन है।

'मुसाहिबजू' की भूमिका ऐतिहासिक, पात्र काल्पनिक और घटनायें जनश्रुति आधारित हैं। इस उपन्यास में मुसाहिबजू और उनकी स्त्री की उदारता का सविस्तर चित्रण दिया गया है। उपन्यास साधारण है।

'कचनार' उपन्यास में धमोनी के राजा दिलीपसिंह के घोड़े से गिरने पर ज्ञानबोध खो देने और फिर मानसिंह से युद्ध में चोट खाकर स्मृति लौट आने की कथा है। 'कचनार' दासी दलीप-सिंह के मरने की सूचना पाने पर भी उसके भाई मानसिंह से विवाह नहीं करती और भाग कर उसी के आश्रम में पहुंच जाती है जहां अपनी सुधबुध भुलाये दिलीपसिंह रहता है। मानसिंह पर विजय पाकर दिलीप उसे क्षमा कर देता है और कचनार से विवाह कर लेता है। इस उपन्यास का प्रधान पात्र 'कचनार' है जिसके चारों ओर कथा घुमती है। 'कचनार' के दृढ़ चरित्र की ओर ही पाठक विशेष रूप से आकर्षित होता है। गाम्भीर्य, संयम और आत्म-गौरव ये उसके जीवन के प्रधान गुण हैं। पुरुष पात्रों में दिलीप, मानसिंह और महंत का चित्रण बहुत सुन्दर है। समय और स्थान के हेर-फेर से ऐतिहासिक घटनाओं का प्रयोग वर्मा जी ने इस उपन्यास में किया है।

वर्मा जी का रोमांतिक साहित्य

वर्मा जी का हिन्दी उपन्यास साहित्य में जो स्थान है वह उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण है। उनके सामाजिक उपन्यास प्रेम प्रधान हैं जिनमें समस्याओं का उतना गाम्भीर्य नहीं, जितना कि आज का युग मांग रहा है। प्रेम का चित्रण करने में आप पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। आपके सभी उपन्यास प्रायः

किसी न किसी किंवदंती पर आधारित हैं। उनमें कुछ घटनायें सच्ची रहती हैं और कुछ काल्पनिक। भावुकता और सहृदयता से वर्मा जी निर्जीव किंवदंती में भी प्राण फूंक देने की क्षमता रखते हैं। आपकी कल्पना और ग्रहण-शक्ति इतनी प्रबल है कि इतिहास के इतिवृत्तात्मक विषय में सजीव मनोरंजन को स्थान देने में आप पूर्णरूप से सफल हुए हैं। वर्मा जी में जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं प्रेम-साधना की विशेष प्रवृत्ति मिलती है और यह प्रेम-साधना इतनी रोमांतिक होती है कि पाठक रचना से चिपटकर रहजाता है। वर्मा जी का रोमांतिक साहित्य आधुनिक लड़कियों के तांगों के पीछे-पीछे दौड़ने वाले नवयुकों के हलके और छिछोरे रोमांस की रूप रेखा न होकर कर्मठता और त्याग की कसौटी पर कस कर पूरा उतरने वाला प्रेमाकर्षण है, जिसमें कर्मशीलता, वीरता, साहस, चमत्कार, सहृदयता और अपूर्व साहस का पूर्ण रूपेण बल रहता है। प्रेम में अकर्मण्यता नहीं कर्मण्यता रहती है। इसी कर्मण्य प्रेम का चित्रण वर्मा जी ने अपने साहित्य में किया है। 'कुमुद' के लिए 'कुंजर' स्वार्थ भाव से बरीता पूर्वक अपने प्राणों का बलिदान देता है। 'कचनार' दिलीपसिंह को प्रेम करती थी इसीलिये राजा होने पर भी मान-सिंह का विवाह प्रस्ताव ठुकरा कर साधुनी बन जाती है। 'मोती' अपने प्रेमी 'खुदाबख्श' के लिये स्वयं कब्र खोदती है और फिर वह स्वयं भी उसी के पास दफ़नाई जाती है। आदर्शात्मक 'दिवाकर' जब पिता से भी विद्रोह करके बन्दी बन जाता है तो उसकी प्रेमिका 'तारा' उसे मुक्त कराती है। इस प्रकार वर्मा जी के रोमांस की परिभाषा गम्भीर है उथली नहीं, वह कोरा ज़बानी शब्द-जाल न होकर कर्तव्य की कठोर कसौटी है जिसपर घिसने से बिरले ही सच्चे उतरते हैं। आपकी प्रायः सभी रचनायें अमर प्रेम-आख्यायिकाओं पर आधारित होने से रोमांस का असर

साहित्य बन गई हैं। 'प्रेम की भेंट' में रोमांस का सुन्दर चित्रण है। 'कुण्डली चक्र' में आधुनिक और आदर्श दोनों प्रकार के रोमांस का दिग्दर्शन लेखक ने कराया है। 'रतन' और 'अजित' का प्रम आधुनिक रोमांस की परिपाटी का प्रतिपादक है। 'पूना' के प्रेम के सम्मुख रतन का प्रेम छिछोरा सा जान पड़ता है। 'झांसी की रानी' में वर्मा जी ने कई प्रेम प्रसंग साथ-साथ चलाये हैं और कर्तव्य को उसमें इतना महान स्थान दिया है कि 'तात्या' के चरित्र से अन्त तक यह ज्ञात नहीं होता कि वह प्रेम करता भी है अथवा नहीं। 'विराटा की पद्मिनी' में तो रोमांस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जो कुछ भी है वह रोमांस से ही उद्भूत होकर आता है।

इस प्रकार हमने देखा कि जिस प्रकार वर्मा जी को हम ऐतिहासिक उपन्यासों का जन्मदाता मानते हैं उसी प्रकार आदर्शोन्मुख रोमांटिक उपन्यासों का भी हम उन्हें सर्वप्रथम उच्च श्रेणी का लेखक कहेंगे। रोमांस के जिस दृष्टिकोण का हमने ऊपर उल्लेख किया है उसका जितना सुन्दर प्रतिपादन हमें वर्मा जी के साहित्य में मिलता है उतना अन्य किसी लेखक के साहित्य में नहीं मिलता। रोमांटिक साहित्य में घटनाओं की प्राधनता रहती है 'स्काट' और 'ड्यूमा' इत्यादि संसार प्रसिद्ध रोमांटिक लेखकों के साहित्य में हमें घटना-प्रधानता मिलती है। इनके उपन्यासों में घटनाओं का जन्म चरित्रों द्वारा न हो कर चरित्रों का निर्माण घटनाओं के प्रभाव से होता है। इस प्रकार विशेषता सर्वदा घटनाओं की रहती है और जो लेखक घटनाओं की योजना अपनी विधायक शक्ति द्वारा जितनी भी क्रमिक कर लेता है उतना ही वह सफल लेखक बन जाता है। रोमांस वास्तव में परिस्थितियों का आश्रय लेकर अपनी परिपूर्णावस्था को पहुँचता है। इन्हीं परिस्थितियों और घटनाओं के करों में चरित्रों का

निर्माण होता है और उसकी पुष्टि होती है। चरित्र की विशेषता प्रकट करने के लिए भी किसी घटना का होना आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति की इच्छायें भी केवल परिस्थितियों की दास बन कर ही चल सकती हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। 'क्या करने' पर पात्र के मस्ति को काम नहीं करना होता 'कैसे करने' की ओर उसका ध्यान रहता है। बिना कामना किये ही जब घटनायें घटने लगती हैं तो पात्र को केवल उन्हें संभालना और परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने का काम रह जाता है। कार्य की खोज करने का अवकाश पात्रों को लेखक नहीं देता क्योंकि कार्य का चक्र उसके सम्मुख पहिले से ही जुटा रहता है। वर्मा जी के उपन्यासों में इसी प्रकार परिस्थितियां स्वयं बनती जाती हैं और परिस्थितियाँ संचालित करने के लिये पात्रों को मस्तिष्क का उपयोग नहीं करना होता। वास्तव में यदि यों कह दिया जाये तो अनुचित न होगा कि इस प्रकार के रोमांटिक साहित्य का सम्बंध शरीर और हृदय से जितना होता है उतना मस्तिष्क से नहीं होता। इसमें तो पात्रों को कर्तव्य परायण होने की आवश्यकता है और लेखक को अपनी विधायक शक्ति द्वारा परिस्थितियों के अनुकूल घटनायें उपस्थित करने की। इन्हीं दोनों के सुचारु रूप से चलने पर सुन्दर रोमांटिक साहित्य का सृजन होता है। रोमांटिक साहित्य लिखने में लेखक को तो मस्तिष्क का प्रयोग करना होता है परन्तु उसके पात्र को नहीं। उसके पात्र परिस्थितियों के अनुकूल अपने आप अपनी-अपनी कीली पर घूमते हैं और जो पात्र अपनी कीली पर अधिक सफलता और भावुकता से घूमता है उसी का चरित्र चित्रण सुन्दर और आकर्षक बन जाता है। 'विराटा की पद्मिनी' की घटनायें बनाने से नहीं बनतीं, स्वयं बनती चली जाती है। अनुकूल और विरुद्ध परिस्थितियों में ही रोमांस का बीजारोपण होकर फलता-फूलता और बल प्राप्त करता है। 'अजित और

'पूना' के जीवन कुंडली चक्र, में इसी प्रकार घटनाओं के ही आधार पर संचालित होते हैं। परिस्थितियां पात्रों की इच्छा या अनिच्छा से नहीं बनतीं-विगड़तीं। व्यक्ति परिस्थितियों की वीचियों में तरंगित होता हुआ जीवन के सागर में इधर-उधर फिरता है। रोमांस उसका कर्तव्य बन जाता है और उसी के लिए यह कर्तव्य शील होकर जीवन पथ पर आगे पग रखता है। सफलता अथवा असफता भी उसके अपने हाथ की वस्तु नहीं। वर्मा जी के प्राय: सभी उपन्यासों में इस प्रकार की रोमांटिक भावना का प्राधान्य मिलता है और उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण भी इसीलिए स्वतंत्र रूप से न होकर घटनाओं और परिस्थितियों के आश्रित रह कर ही हुआ है।

वर्मा जी के उपन्यासों की कथावस्तु

वर्मा जी के अन्दर विधायक शक्ति का जितना प्रबल वेग हमें मिलता है उतना हिन्दी के अन्य किसी उपन्यासकार में नहीं मिलता। आपके उपन्यासों की कथा वस्तु इतनी सुसंचालित होती है कि उसमें कहीं पर भी कोई दोष खोजना कठिन हो जाता है। उपन्यासों में विभिन्न कथाओं को लेकर भी उनका इतना सुन्दर सामंजस्य स्थापित करते हैं कि अनेकों आख्यायिकायें एक सूत्र में बंध कर ऐसी लड़ी-बद्ध हो जाती हैं कि जिस प्रकार माला में कोई मनकों को पिरोता है वह सभी दाने स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व रखते हुए भी माला में मिलकर एक हो जाते हैं। वर्मा जी जब कोई उपन्यास लिखने लगते हैं तो पहिले वह उस कहानी को पूर्ण कर लेते हैं और फिर उसी कहानी के आधार पर उपन्यास का निर्माण करते हैं। आज का उपन्यासकार इस कहानी को लेकर चलने वाली प्रथा का विरोधी है। परन्तु वर्मा जी सुव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए बिना कहानी के उपन्यास लिखने को मूर्खता समझते हैं। एक क्रमिक शृंखला बद्ध

कहानी न होने पर लेखक के पास कहने के लिए क्या आधार रह जाता है, वर्मा जी के उपन्यासों में कहानी को व्यक्ति की रीढ़ की हड्डी की तरह सुदृढ़ बनाकर रखा गया है और उसी पर उनका चरित्र-चित्रण और कथनोपकथन इत्यादि स्थिर रहते हैं। यही कारण है कि वर्मा जी के उपन्यासों में से चरित्र-चित्रण और कथनोपकथन निकल जाने पर भी आकर्षक कहानी शेष रह जाती है। यह कहानी अपने आप में आपना आकर्षण रखती है और पाठक के मनोरंजन का साधन बनती है। कहानी, घटनाओं और परिस्थितियों की योजना में जो दक्षता वर्मा जी को प्राप्त है वह उनके साहित्य की एक ऐसी विशेषता है जिसके लिए साधारण पाठक भी उनका आभारी रहता है। वर्मा जी के उपन्यासों की कहानियों में रंग-विरंगे चित्र अंकित रहते हैं जिनका चित्रण कलाकार ने अपनी सफल तूलिका से इतना आकर्षण पूर्ण किया है कि पाठक एक बार उनमें उलझ कर नेत्र बन्द करके अपनी कल्पना के द्वारों को सहृदयता पूर्वक खोलता है उसके सम्मुख कोमल से कोमल और सजीव से सजीव झांकिया आकर उपस्थित हो जाती हैं। परिस्थितियों के साकार चित्र उपस्थित कर देने की पूर्ण क्षमता वर्मा जी की लेखनी में वर्तमान है।

वर्मा जी के उपन्यास ऐतिहासिक हैं और आख्यायिकाओं पर आधारित हैं। यों तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पात्रों में

वर्मा जी का चरित्र-चित्रण

महानता वर्तमान है ही परन्तु वर्मा जी ने उनके निर्माण को पूर्ण सहयोग दिया है और ऐतिहासिक पात्रों के साथ ही साथ कुछ कल्पित पात्रों का सृजन करके अपने उपन्यासों को और भी सजीव बना दिया है। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं वर्मा जी का साहित्य रोमांटिक है और रोमांटिक साहित्य कथा प्रधान रहता है, चरित्र चित्रण प्रधान नहीं। वहां पात्रों का विकास

परिस्थितियों और घटनाओं के द्वारा होता है पात्रों या चरित्रों से उद्भूत होकर परिस्थितियां या घटनायें नहीं आतीं। व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार घटनाओं को पैदा नहीं करता वरन् उसे अपना जीवन घटनाओं की छत्रछाया में संचालित करना होता है। ऐसी दशा में पात्रों का विकास तो हुआ है परन्तु उतनी स्वच्छंदता पूर्वक नहीं हुआ जितना कि होना चाहिये था। वर्मा जी ने अपने पात्रों का मनोवैज्ञानिक या आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया परन्तु यह सब होने पर भी आपने जिन चरित्रों का चित्रण किया है वह बहुत व्यापक और ठोस हैं। उनका परिस्थितियों में पड़ कर पाठक पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि पाठक अपने को पात्र समझने लगता है, केवल पाठक नहीं। वर्मा जी के चरित्र पाठक के मस्तिष्क पर स्थाई प्रभाव डालने में बहुत अधिक सफल हुए हैं। बुन्देलखंडी जीवन के तो प्रायः सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व आपके पात्र करते हैं और यह चित्रण बहुत ही स्वाभाविकता को लिये हुए है। वीर, कायर, प्रेमी, कुटिल सदाचारी और दुराचारी, राजा-रंक, गृहस्थी, साधु सभी प्रकार के विभिन्न पहलुओं पर आपने प्रकाश डाला है। वर्मा जी अपने नायकों के निर्माण की अपेक्षा नायिकाओं के चित्रण में अधिक सफल रहे हैं। तारा, रतन, पूना, सरस्वती, कुमुद, मुन्दर, रानी झांसी इत्यादि के चरित्रों को आपने आदर्श, त्याग और प्रेम के क्षेत्र में पराकाष्ठा को पहुँचा दिया है। भावुकता, सौंदर्य, लावण्य, और कोमलता का ऐसा सुन्दर दिग्दर्शन इन पात्रों में हुआ है कि पाठक को उनके गुणों पर मुग्ध होते ही बनता है। साहस, शक्ति और बलिदान की पुट देकर यह नायिकायें वर्मा जी ने और भी निखार दी हैं। हृदय में प्यार की दहकती हुई ज्वाला को लेकर भी वर्मा जी की नायिकायें उसका प्रदर्शन करती हुई नहीं फिरतीं। वर्मा जी ने नायिकाओं

का जो सजीव और व्यापक चित्रण किया है वह हिंदी साहित्य की अमूल्य-निधि है। आपकी सभी नायिकाओं में 'तारा' और 'कुमुद' के चित्र बहुत सुन्दर चित्रित हुए हैं। इन नायिकाओं के प्रेम का आभास पाठक को पुस्तक के अन्त में ही मिल पाता है और कभी कभी तो नायक भी बहुत देर तक उसे समझने में असमर्थ रहता है। 'विराटा की पद्मिनी' में कुंजर 'कुमुद' की ओर से प्रेमाभास न पाने पर भी उसे देवी मान कर पूजता रहता है परन्तु अन्त में जब वह गड़गड़ाती हुई तोपों के सम्मुख सीना तान कर जाने के लिये अन्तिम विदा लेने आता है तो 'कुमुद' के धैर्य का बांध टूट जाता है और उसके नेत्र तरल हो उठते हैं। वह 'कुंजर' की ग्रीवा में बन-पुष्पों का हार डाल कर अपने सात्विक प्रेम का प्रदर्शन करती है और अन्त में बेतवा की लहरों में कूद कर अपने प्रेम की दृढ़ता का प्रमाण देती है। 'कुमुद' के रूप में जिस देविका चित्रण वर्मा जी ने उपस्थित किया है वह वास्तव में पालर वालों की देवि थी, दांगीवालों की देवि थी, उसे कुंजरसिंह कुलदेवी कहकर हृदय में स्थापित किये हुए था, लोचनसिंह उसे देवी समझता था, वहां की जनता देवी के रूप में उसका पूजन करती थी और आज 'विराटा की पद्मिनी' के पाठक 'कुमुद' को देवी से अन्यत्र कुछ और नहीं समझ सकते। 'झांसी की रानी' में लक्ष्मीबाई का चरित्र वर्मा जी ने वह आदर्श चरित्र उपस्थित किया है कि जिसके रोम-रोम में देश भक्ति और राष्ट्र-निर्माण का अमर सन्देश भरा हुआ था। वर्मा जी के उपन्यासों के ऐतिहासिक होने के कारण और विशेषरूप से आख्यायिकाओं पर आधारित होने के कारण पात्रों का जमाव अधिक हो जाता है। अधिक पात्र होने से यह तो निःसन्देह सच है कि पात्रों के विकास में बाधायें आई हैं परन्तु फिर भी वर्मा जी को सभी पात्रों का पृथक पृथक चित्रण करने में आशातीत सफलता

मिली हैं। कहीं कहीं तो दो चार शब्दों में ही पात्र के चरित्र का भावपूर्ण विकास लेखक ने इस प्रकार उपस्थित कर दिया है जिस प्रकार एक सफल चित्रकार अपनी तूलिका की दो चार रेखाओं से चित्र के सम्पूर्ण भावों को हृदयंगम करके प्रस्तुत चित्र में मूर्तिमान स्वरूप दे डालता है। परिस्थितियों के उपस्थित करने में वर्मा जी को जो कुशलता प्राप्त है वह हिन्दी में अन्य किसी लेखक को नहीं है। चारों ओर तोपों के घमासान में 'कुमुद' और 'कुंजर' के प्रणय की अन्तिम रूपरेखा स्थापित कर पात्रों को कर्तव्य की कसौटी पर कसना वर्मा जी जैसे कुशल लेखक का ही काम है। 'दिवाकर' और 'तारा' का मिलन भी ठीक इसी प्रकार की घटना है जिसमें प्रणय के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन होता है। रोमांस का विशुद्ध सात्विक स्वरूप यही है और इसी आदर्श पर योरोपियन लेखकों ने भी इसकी परिपाटी चलाई। जीवन की कठोरतम परिस्थितियों में इस प्रेम की परख होती है और वहां पूरा उतरने पर ही इसे वास्तविक रोमांस कहा जा सकता है। टामस हार्डी के समान वर्मा जी ने भी बुन्देलखंड के रूप में आपने 'वेसेक्स' का निर्माण किया है। हार्डी का यह नाम काल्पनिक तथा घटनायें इत्यादि सच्ची हैं परन्तु वर्मा जी के इस बुन्देलखंडी साहित्य में सब कुछ सच्चा ही सच्चा है केवल साहित्य सुलभ कल्पना की रंगीनियों का आश्रय वर्मा जी ने अवश्य लिया है। वर्मा जी उपन्यासकार होकर यदि इस कल्पना का आश्रय न लेते तोउपन्यास आख्यायिका प्रधान इतिहास मात्र रह जाते जिसका न तो इतिहास केक्षेत्र में कोई महत्व होता और न साहित्य के क्षेत्र में ही।

वर्मा जी के उपन्यासों में कथनोपकथन बहुत सुन्दर हैं और जहां पर रोमांस का चित्रण कथनोपकथनों में किया गया है वहां तो आपके कथनोपकथन बोल उठते हैं। इन कथनोपकथनों

कथनोपकथन

में भावुकता प्रधान रूप से रहती है और हृदय की अंतिमतम अभिलाषा को भाषा बद्ध करने में यह कथनोपकथन पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। कहीं कहीं पर यह बहुत लम्बे अवश्य हो गये हैं और पाठक उनसे ऊब कर उन्हें अस्वाभाविक भी कह डालता है परन्तु ऐसा बहुत कम स्थलों पर हुआ है। अधिकांश में यह थोड़े ही हैं और भाव तथा भावनाओं को व्यक्त करने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। वर्मा जी के कथनोपकथनों में स्वाभाविकता है और कई स्थानों पर तो ऐसा नाटकीय चमत्कार उपस्थित हुआ है कि पाठक की आंखों के सम्मुख पढ़ते पढ़ते साकार रूप में प्रतिमायें उपस्थित हो जाती हैं। आपके वाक्यों में पाठक के हृदय-तत्व तक पहुँचने की शक्ति वर्तमान है।

वर्मा जी की भाषा और शैली

जहां तक शैली का सम्बन्ध है वह हम ऊपर कह चुके हैं कि वर्मा जी एक कहानी को लेकर चलते हैं चाहे वह कल्पित हो अथवा ऐतिहासिक। उसी कहानी के हृदय-स्पर्शी स्थलों को अपने अद्वितीय चातुर्य से पहिचान कर आप उसमें रंगीनियां भरते और उसे चमत्कृत करते हैं। उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त वातावरण उपस्थित करने की कला में वर्मा जी की विशेष प्रतिभा का संचालन होता है और आपकी इस सफलता के लिये हिन्दी उपन्यास साहित्य आपका आभारी है। उपन्यास प्रारम्भ करते हैं वर्मा जी कहानी को लेकर और सीधे कहानी कहना प्रारम्भ कर देते हैं। पात्र-परिचय के लिये उनके कथासंचालन में कोई विराम नहीं। यथा समय पात्र स्वयं प्रकाश में आते चले जाते हैं। वर्मा जी पात्रों के विश्लेषण का भार अपने ऊपर नहीं लेते। पात्र अपने कथनोपकथनों और अपनी परिस्थितियों द्वारा ही अपना परिचय कराते हैं।

वर्मा जी की भाषा बहुत सजीव है। कहीं कहीं पर उसमें बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग अवश्य मिलता है परन्तु उससे भाषा के गाम्भीर्य अथवा उसकी रोचकता में कोई अन्तर नहीं आता। वर्मा जी की उपमायें बहुत मनोहर होती हैं। उपमाओं द्वारा परिस्थिति का सजीव चित्र उपस्थित करने में वर्मा जी पूर्ण रूप से सफल हैं। बात को तोड़ मरोड़ कर कहना वर्मा जी की प्रकृति नहीं है। वह तो सीधी भाषा में सीधी बात कहना जानते हैं और उसी का पाठक पर विशेष प्रभाव भी पड़ता है। आपकी भाषा में सरलता होने पर भी काव्यात्मकता है, चलतापन नहीं। व्यर्थ के लिये भाषा को रोचक बनाने के अभिप्राय से मुहावरों का प्रयोग करना आप उचित नहीं समझते। वर्मा जी ने अंग-रेजी से मुहावरों का भी अनुवाद करके अपनी भाषा में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार हमने देखा कि वर्मा जी ने हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक नवीन धारा को सफलता पूर्वक प्रवाहित किया है और हिंदी साहित्य को अमूल्य कला-कृतियां प्रदान की।

संक्षिप्त

'गढ़ कुंडार,' 'विराटा की पद्मिनी,' और 'झांसी की रानी' आपकी प्रसिद्ध रचनायें हैं जिनका हिन्दी के पाठकों ने विशेष रूप से सम्मान किया है। वर्मा जी हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक ऐसी ज्योति के समान आये कि जिस ज्योति ने प्रकाशमान होकर केवल स्वयं ही साहित्यक क्षेत्र को प्रकाशित नहीं किया वरन अपनी ज्योति से अनेकों ज्योतियों को जाज्वल्यमान कर दिया। हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रथम महा-रथी मुं० प्रेमचन्द के पश्चात हम दूसरा स्थान वर्मा जी को दे सकते हैं। आपने जिस दिशा को अपने साहित्य में अपनाया उसका कोना-कोना छान डाला है और विविध दृष्टिकोणों से लेकर उसे प्रकाशमान किया है। वर्मा जी की प्रगति आज भी

पूर्ण वेग से चल रही है। बुन्देलखंडी इतिहास और आख्यायिका क्षेत्र को लेकर आपने जो सजीव चित्र अंकित किये हैं, हिन्दी साहित्य-पटल पर युग युग तक आने वाले पाठकों के सम्मुख अपने कलापूर्ण स्वरूप में उपस्थित रहेंगे। इतिहास को आपने अपनी लेखनी में बांध कर आदर्श रूप में खड़ा कर दिया है और विद्यार्थी क्षेत्र से बाहर ले जाकर साधारण पाठक के सम्मुख उपस्थित कर दिया है। आपने हिन्दी साहित्य को कुछ अमर चरित्र प्रदान किये हैं जिनके त्याग और बलिदान की अमर कहानियां पाठक रोमांचित होकर पढ़ते और विह्वल हो उठते हैं।

(१०)

जैनेन्द्रकुमार

(१६०५—जीवित)

[आज के इस मनोवैज्ञानिक युग में जब बुद्धिवाद का विकास हो रहा है तो प्राचीन रूढ़ियां स्वयं जरजरित होती चली जा रही हैं। रूढ़ियों ने व्यक्ति के विकास में बाधायें उपस्थित की हैं और मानव जीवन को बन्दी बना कर ऐसा नियंत्रित कर दिया था कि वह परिस्थितियों के हाथों में कठपुतली बन कर नाचने लगा, उसका विकास रूक गया, उसकी प्रगति रुक गई और वह जड़वत होकर रह गया। मु० प्रेमचन्द और कौशिक जी ने रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह किया परन्तु प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ कर वह नवीन रूढ़ियों के निर्माण में जुट गये और अपनी उपदेशात्मक प्रवृत्ति द्वारा विकास के मुक्त मार्ग में फिर बाधायें उपस्थित कर दीं। विचारों के स्वतन्त्र संचार में विश्वास न करके उसकी परिधि बनाने का प्रयत्न करने लगे। सिद्धांतों की चहार दीवारी से बाहर ले जाकर खुले हुए उद्यानों में वह अपने साहित्य को प्रवाहित न कर सके। इसके फल स्वरूप मन का स्वाभाविक प्रभाव कृत्रिम हो उठा और स्व-निर्मित रूढ़ियों को स्वभाव माना जाने लगा।

साहित्य में इसकी प्रतिक्रिया हुई। बीसवीं सदी का उपन्यासकार इन रूढ़िवादी श्रृंखलाओं को तोड़ता फोड़ता वाह्य आडम्बर की ओर से मन की ओर झुका और मनोवैज्ञानिक आधार पर उसने अपने साहित्य को स्थापित किया। बंधी बंधाई परिधियों से बाहर निकल कर उसके मन की आकांक्षाओं को मुक्त मार्ग मिला। सिद्धांतों और विचारों

देता। बुद्धि अच्छे और बुरे का ज्ञान कराती है। यह हृदय और बुद्धि का संघर्ष है, सामाजिक रूढ़ियों और हृदय की भावनाओं की टक्कर है जिसमें धीरे धीरे रूढ़ियाँ जरजरित होती जा रही हैं और हृदय का स्वच्छंद प्रवाह अपने आकर्षण की ओर उनमुक्त हो रहा है। हार कर भी जीतने वाली प्रवृत्ति इस हृदय में ही है, मस्तिष्क में नहीं। समाज कहता है कि तुम्हारा पाणिग्रहण अमुक व्यक्ति के साथ हुआ है, इस लिए जीवन भर तुम उसी की दासी बन कर रहो; परन्तु भावनाओं को इससे ठेस लगती है और वह विद्रोह कर उठती हैं। एक लम्बे युग तक इन भावनाओं को ढकोसलेबाज़ी ने अपने पैरों में रौंदा परन्तु आज के मनोवैज्ञानिक युग ने क्रांति को जन्म दिया और व्यक्ति की छिनी हुई स्वतन्त्रता उसे वापिस दी। आज का कलाकार भी सजीव हो उठा और उसने अपनी लेखनी को रूढ़ियों से मुक्त कर दिया। समाज के कठोरतम दंड उपहास की वस्तु बन गये और आज के युग में जो कुछ भी उसका प्रदर्शन दृष्टि गोचर हो रहा है वह खिसियाई बिल्ली की दाँत काटने वाली बात मात्र है। 'कट्टो' जिसके मस्तक पर समाज ने विधवा होने की मोहर लगा दी अपनी स्वच्छंद प्रकृति से समाज का उपहास करती हुई न जाने कब मास्टर साहब के चरणों में अपनी श्रद्धा भक्ति और प्रेम के पुष्प चढ़ा देती है। वह स्वयं अपने लिये दो लाल चूड़ियां खरीद लाती है और उन्हें लिख भी देती है, "मुझे अब से 'कट्टो' न कहना, लाज आती है......तुम्हें मेरी कसम।" वह बिहारी से स्पष्ट कह डालती है कि वह व्यर्थ आया है क्यों कि विवाह की बात पक्की हो गई है और वह विवाह की बात पक्की नहीं कर सकेगा। परन्तु जब बिहारी 'सत्यधन' की परिस्थिति कट्टो के सम्मुख रखता है तो 'कट्टो' अपनत्व को 'सत्यधन' में खो देती है और कह उठती है, "मुझसे बोलते, मुझसे मांगते डरते हो? जैसे

पराये से कुछ मांग रहे हो ? छिः सो नहीं। तुम्हारे काम नहीं आई तो हुई ही क्या ?......तुम जो कुछ भी चाहते हो उसमें 'कट्टो' की खूब राय है। कट्टो उसे खूब चाहती है। उसका पूरा पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। अपने कामों में कट्टो की गिनती न करो। वह गिनने लायक नहीं। उसकी खुशी तुम में ही शामिल है। बस ! तुम ब्याह करना चाहते हो तो कट्टो तुम्हारा सब से पहिले ब्याह चाहती है।" यह आत्म बलिदान का वह महत्व पूर्ण उत्कर्ष है जिसके सम्मुख सामाजिक नियम तुच्छ हो जाते हैं। 'कट्टो' स्वयं अपने सुहाग की पोटली 'गरिमा' के लिए भेज देती है। 'कट्टो' हार कर भी विजय का अनुभव करती है। आँखों में आंसू लेकर भी उसके जीवन में विश्वास का प्रेमांकुर सुदृढ़ हो जाता है। वह अपने देवता के चरणों की रज लेकर उसे विवाह करने के लिए मुक्त कर देती है और विहारी को अपनी आत्मा का साथी मान कर वैधत्व के यज्ञ में अपने जीवन की वलि दे डालती है।

'परख' की 'कट्टो' में कितना चाँचल्य है और कितना गाम्भीर्य है यह देख कर पाठक उसमें श्रद्धा किए बिना नहीं रह सकता। नारी-जीवन की कोमलता, उदारता, त्याग, कमनीयता और भावुकता उसमें ठूंस ठूंस कर भरी पड़ी है। 'कट्टो' और 'विहारी' एक ही भावना और विचार-शक्ति के नर और नारी संस्करण हैं, जिनके जीवन का अन्तिम उत्कर्ष लेखक ने वहाँ उपस्थित किया है जब वह दोनों एक दूसरे को तन के लिए नहीं मन के लिये अपनाकर एक हो जाते हैं। विहारी का चित्रण लेखक ने एकांगी किया है और यही कारण है कि वह सत्यधन से बहुत भारी है। सत्यधन में आत्म-प्रवंचना है और इसीलिए छिछली दार्शनिकता के प्रकाश में वह वितर्क बुद्धि बनकर भारी बनने का प्रयत्न करते हुए भी हल्का ही रह गया है। 'विहारी' के व्यक्तित्व में ठोसपन

और सिद्धांतों की दृढ़ता है। उसका जीवन उथला न होकर बहुत गहरा है और उस गहराई में उसके सिद्धांतों की मज़बूती है। वह हँसना भी जानता है और रोना भी, परन्तु हँसी में रोने को और रोने में हँसी को भूल जाना वह नहीं जानता। 'सत्यधन' का व्यक्तित्व हल्का है और बिहारी की गहराई तक नहीं पहुँच सकता परन्तु 'कट्टो' ने उस गहराई को परख लिया है और इसीलिये वह उससे मिल सकी। 'बिहारी', 'सत्यधन' की हृदय-हीनता पर तरस खाता है और 'कट्टो' के प्रति प्रेम भावना रखते हुए वह उसके प्रति करुणा भी रखता है। बिहारी की आत्मा को 'कट्टो' ने छुआ है और इसीलिये उसके हृदय के कोमलतम स्थान में वह जाकर बस गई है। यह प्रेम सात्विक है, दैविक नहीं, और इसीलिये इसमें स्थिरता है। इस प्रकार 'परख' में प्रधान रूप से 'कट्टो', 'बिहारी' और 'सत्यधन' का ही मनोवैज्ञानिक चित्रण लेखक ने किया है और 'परख' हिन्दी का सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक-चित्रण-प्रधान उपन्यास है जिसके द्वारा लेखक ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक नवीन धारा दी है और जिसमें बहकर आज अनेकों लेखकों ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य-भंडार की पूर्ति की है। इस उपन्यास के पात्रों में त्याग और उत्सर्ग की वह आदर्शवादी रूप-रेखा जैनेन्द्र जी ने प्रस्तुत की है कि वहाँ पर यथार्थवाद के पैर लड़खड़ा जाते हैं और 'बिहारी' तथा 'कट्टो' के के आदर्शवाद, बौद्धिक विकास और हृदय की विशालता के सम्मुख यदि देवता भी पृथ्वी पर उतर आयें तो लजा सकते हैं। आदर्श, उच्छृंखलता और मानवीयता का मनोविज्ञान के सांचे में ऐसा सुन्दर चित्रण जैनेन्द्र जी ने ढाला है कि उसमें नवीनता तो अवश्य मिलती है परन्तु गाम्भीर्य और हल्कापन आकर एक ही स्थान पर एकत्रित हो गये हैं। इस प्रकार के चित्रण को कलाकार की कला मानने में तो हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती

परन्तु इतना अवश्य है कि जैनेन्द्र जी के पात्रों में स्वाभाविकता न आकर अनोखापन आ गया है। यदि अनोखे पात्रों का निर्माण करना लेखक के उपन्यास का उद्देश्य है तो यह उपन्यास बहुत सुन्दर तथा सफल है; परन्तु हम इसे उपन्यास का गुण न मानकर बनावट समझते हैं। इससे यथार्थ-चित्रण के विकास में बाधा उपस्थित होती है। जो लेखक रूढ़ियों से मुक्त होकर चलना चाहता है वह अपने पथ से इतना विचलित हो जाता है कि हम उसके पथ को आधार-विहीन भी कह सकते हैं, जिसमें कोई व्यवस्था नहीं, कोई क्रम नहीं। आदर्श की स्थापना उद्देश्य-विहीन होकर करने के प्रयत्न को पाठक न तो कला का आश्रय लेकर क्षमा कर सकता है और न स्वाभाविकता का ही। जो चाँचल्य परख में दिखलाई देता है वह भी 'कट्टो' के चरित्र की ऐसी विशेषता है कि जो भारतीय लड़कियों में कहीं भूले भटके ही देखने को मिल सकती है। हो सकता है जैनेन्द्र जी को कहीं कोई ऐसी छोकरी देखने को मिल गई हो और उसने लेखक को प्रभावित करके 'परख' लिखने पर बाध्य कर दिया हो। यह सब होने पर भी उपन्यास में चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक और सजीव हैं, पाठक के लिए उसमें मनोरंजन और चिन्तन दोनों गुण वर्तमान हैं, और कहीं-कहीं पर पात्रों में हल्कापन आ जाने पर भी उपन्यास में हल्कापन नहीं आ पाया है। अपने ढंग की नवीन शैली का प्रयोग होने के नाते इस उपन्यास का हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में विशेष स्थान है और रहेगा।

'परख' के पश्चात् जैनेन्द्र जी तथा ऋषभचरण जैन का सम्मिलित प्रयास 'तपोभूमि' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में चार व्यक्ति अपनी-अपनी जीवन-गाथा सुनते हैं और उसी से इस उपन्यास का निर्माण होता है। पुस्तक का दो तिहाई भाग जैनेन्द्र जी का लिखा हुआ है और वह अपने में पूर्ण भी है।

जितना कुछ इस उपन्यास में जैनेन्द्र जी द्वारा लिखा गया है वह सब 'परख' की ही भाँति आत्म-विश्लेषण की कसौटी पर कस कर लेखक ने लिखा है। जिस प्रकार 'परख' में कट्टो अपनत्व को दूसरे के लिए समाप्त कर देती है उसी प्रकार इस उपन्यास में भी 'धरणी', 'नवीन' और 'शशि' में आत्म त्याग और 'स्व-' बलिदान की भावना वर्तमान है। त्याग की आधार-शिला पर ही इन पात्रों का निर्माण हुआ है। व्यक्ति समष्टि के लिए अपना बलिदान देता है और इसी आदर्श का निरूपण हमें इस उपन्यास में मिलता है। उपन्यास में चार कहानी हैं परन्तु सब सम्बन्धित और सुगठित। कहीं-कहीं पर कुछ श्रृंखला अवश्य टूट गई है परंतु फिर भी लेखक ने उसे कलात्मक रूप से जोड़ दिया है। जैनेन्द्र जी अपने उपन्यासों में साधारण बातों को समझाने की जिम्मेदारी पाठकों पर छोड़ते हुए चलते हैं। इसके फल स्वरूप पाठक को सजग रहना होता है और वह उपन्यास में रस भी ले पाता है। अधिक खुली-खुली बातों की जिम्मेदारी जब लेखक अपने ऊपर लेकर चलता है तो पाठक की कल्पना की तो एक दम इति श्री हो जाती है। जैनेन्द्र जी की रचना में बुद्धू पाठक आनंद-लाभ नहीं कर सकता। आद्योपाँत विस्तार पूर्वक कथा कहने की बान जो कौशिक जी और प्रेमचन्द जी की थी उसका जैनेन्द्र जी में नितांत अभाव है। जैनेन्द्र जी में अपनी बात कह जाने की वह कुशलता वर्तमान है कि पाठक उसे पढ़ कर रीझ उठता है। प्रेमचन्द जी लिखते हैं, "जैनेन्द्र में साधारण सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है जो तुरन्त आकर्षित करती है।" आपकी वर्णन-शैली बहुत आकर्षक और सजीव रहती है और विशेष रूप से 'परख' और 'तपोभूमि' में भाषा बहुत लोचदार है।

जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों को जिस मनोवैज्ञानिक-स्तर पर लाकर रखा है वहाँ चरित्र-चित्रण की प्रधानता है, कथा अथवा

कोरी मनोरंजकता की नहीं। गोस्वामी जी का समय समाप्त हो चुका था और प्रेमचन्द जी की प्रणाली भी अंतिम श्वाँस ले रही थी। बुद्धि और हृदय का संघर्ष प्रखर हो उठा था और कोरी कल्पना अपने पँख नहीं पसार सकती थी। अब एक वैज्ञानिक की भाँति चरित्र का अध्ययन करना आवश्यक था और इस आवश्यकता को समझ कर ही जैनेन्द्र जी ने अपने काव्य की धारा को प्रवाहित किया। उपन्यास में मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण केवल उपकरण अथवा साधन के रूप में ही कलाकार को प्रस्तुत करना चाहिए, साध्य के रूप में नहीं, विषय के रूप में नहीं। जैनेन्द्र जी ने अपनी प्रारंभिक रचनाओं में कलाकार की इस परिधि को सामने रख कर ही रचनाएँ की हैं परन्तु हम देखते हैं की लेखक की प्रवृत्ति धीरे धीरे कलाकार के दृष्टिकोण से हट कर दार्शनिक-दृष्टिकोण की ओर बढ़ती जा रही है। हम इसे उपन्यासकार की भूल ही कहेंगे क्यों कि मनोरंजन कला का प्रधान गुण होना चाहिए। केवल कोरा दार्शनिक चिंतन मात्र ही उसका लक्ष नहीं बन सकता। एक उपन्यासकार यदि यह भूल कर चलता है कि कहानी उपन्यास का एक अंग है और मनोरंजन उसका एक प्रधान गुण तो वह निश्चित रूप से सफल उपन्यासकार नहीं बन सकता, दार्शनिक अवश्य बन सकता है। उसके पाठकों का क्षेत्र भी सीमित ही रह जायेगा। मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण वाले उपन्यासों में मानव-संबंध से पाठक के मन में आकर्षण तो अवश्य होता है परन्तु घटनाओं, परिस्थितियों और कहानी-सूत्र को भली प्रकार संचालित किए बिना भी पाठक उसे पढ़कर उधारा-उधारा ही रहता है। कहानी तत्व को एक दम भुला कर केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर रचना करना उपन्यास को सीमित बनाना है और उसके कलात्मक क्षेत्र को एक दम अनाकर्षक कर देना है। 'तपोभूमि' में जैनेन्द्र जी ने चरित्र-चित्रण की विशेषता के

साथ ही साथ कहानी की विशेषता को भी पूरा निभाया है और उसमें जो आकर्षण है उससे पात्र और भी सजीव हो उठे हैं। घटनायें थोड़ी होने पर भी सुगठित हैं और उनका पात्रों के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है। व्यर्थ का घटना-जाल रच कर लेखक ने पाठकों को भूल भुलैय्या में डालने का प्रयत्न नहीं किया। 'परख' तथा 'तपोभूमि' दोनों के ही पात्र सजीव और सोद्देश्य हैं। घटनाओं अथवा पात्रों की क्रियाकलापों का संचालन बहुत सुचारु रूप से तथा तर्क संगत शैली के साथ किया गया है। जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में आदर्शवाद और सामाजिक रूढ़ियों का खंडन किया है। परन्तु साथ-साथ महान्-तम उद्देशों की स्थापना भी की है और त्याग तथा बलिदान के ऐसे सबल उदाहरण उपस्थित किए हैं कि कुछ स्थलों पर तो वह लेखक की कल्पना मात्र से प्रतीत होते हैं। मानव की सब-लता और निर्बलताओं का सुन्दर दिग्दर्शन आपने इन उपन्यासों में कराया है।

'परख' और 'तपोभूमि' के पश्चात् जैनेन्द्र जी का 'सुनीता' उपन्यास प्रकाशित होता है। इसमें उपन्यासकार दार्शनिक बन बैठा है और रचना में कहानी की उसने कोई

सुनीता

आवश्यकता ही अनुभव नहीं की। यह उपन्यास साधारण पाठक के लिये रोचक रचना नहीं हो सकता क्योंकि इसमें आदि से अंत तक 'हरिप्रसन्न', 'श्रीकान्त' और 'सुनीता' के ही वाद-विवादों का महत्व है, शेष कुछ नहीं। यह वाद-विवाद भी ऐसी दार्शनिक छाया के अंतर्गत लिखे गये हैं कि उनमें से मनोरंजन तत्व का निताँत अभाव हो गया है। 'हरिप्रसन्न' एक राष्ट्रीय नेता है। वह अपने मित्र 'श्रीकान्त' के यहाँ जाकर रहता है। 'श्रीकान्त' उसके अव्यवस्थित जीवन में व्यवस्था लाना चाहता है। 'श्रीकान्त' की स्त्री 'सुनीता' 'हरि' को

पढ़ने का प्रयत्न करती है और 'हरि' सुनीता की ओर आकर्षित होकर आसक्ति की सीमा तक पहुँच जाता है। 'श्रीकान्त,' 'सुनीता' और 'हरि' को अकेले छोड़ कर बाहर चला जाता है और उसकी अनुपस्थिति में 'हरि' 'सुनीता' को क्राँतिकारी दल की नेत्री बनने को कहता है। वहुत तर्क वितर्क के पश्चात् 'सुनीता' 'हरि' का प्रस्ताव मान लेती है और अकेली उसके साथ दल का संगठन देखने चल देती है। एकाँत में 'हरि' की काम-वृत्ति उद्दीप्त हो उठती है और वह 'सुनीता' को पाना चाहता है। इस पर प्रवल नारी 'सुनीता' उसके मोह को करुणा में डुबा देने के लिये उस मोहाँध पुरुष के सम्मुख अपना नग्न रूप प्रस्तुत कर देती है। 'हरि' का मोह भंग हो जाता है और वह 'सुनीता' को उसके घर छोड़ कर सर्वदा के लिये वहाँ से चला जाता है। 'सुनीता' अपने पति की प्रेम पात्री वनी रहती है। इस उपन्यास के तीनों ही पात्र विचित्र हैं। 'हरि' के जीवन का क्या उद्देश्य है यह लेखक पुस्तक के अंत तक प्रस्तुत नहीं करता। वह शिल्पी है, कलाकार है, क्राँतिकारी है, दार्शनिक है सभी कुछ तो है, क्या नहीं है 'हरि'; परन्तु यह सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं है। उसके जीवन का कोई लक्ष नहीं है। वह निरुद्देश्य है, इसीलिये 'श्रीकान्त' उसके जीवन में व्यवस्था लाना चाहता है। उसके हृदय में 'हरि' के लिये कितनी ममता है इसका पता उसके इस महान त्याग से चलता है कि उसके जीवन को व्यवस्थित करने के लिये वह अपनी स्त्री 'सुनीता' को साधन बनाता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति में जैनेन्द्र जी ने इस प्रकार का यह पहिला ही उदाहरण प्रस्तुत किया है जहाँ एक मित्र ने अपने मित्र के जीवन को व्यवस्थित करने के लिये अपनी स्त्री को साधन बनाया हो। 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं' यह शब्द लेखक ने भूमिका में लिख दिये हैं, इसलिये कहानी की खोज करना इस उपन्यास में व्यर्थ ही है। चरित्र-

चित्रण भी कहानी और घटनाओं के अभाव में विकसित नहीं हो सकता था और वैसा ही हुआ भी है, परन्तु दार्शनिक विवेचन पुस्तक में अवश्य मिलता है। 'स्व' और 'पर' के भेद और अभेद की विवेचना लेकर ही वाद विवादों की झड़ी के अंतर्गत इस उपन्यास का विकास हुआ है। 'मैं' और 'मेरा' को लेकर ज़ीवन में जिस संघर्ष का जन्म हुआ है उन्हीं क्रिया और प्रतिक्रियाओं का विवेचन बहुत मनोवैज्ञानिक तूलिका से कलाकार ने चित्रित किया है, पर यह चित्र इतना दार्शनिक हो गया है कि साधारण पाठक के लिये बुद्धिगम्य नहीं। 'मैं' और 'मेरा' 'स्व' और 'पर' के अंतर्गत Subjective और Objective विज्ञान की रूपरेखा लेखक ने प्रस्तुत की है और जहाँ तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विवेचन का सम्बन्ध है उसने बहुत सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया है।

'सुनीता' का चित्रण जैनेन्द्र जी ने रवीन्द्र की 'मधुरानी' से भी अधिक बलवान और आदर्शोंमुख किया है। व्यवहार-जगत में ऐसा पात्र होना कितना कठिन है, इस प्रश्न को छोड़कर जब हम आदर्श और कर्तव्य की कसौटी पर 'सुनीता' को कसते हैं तो वह मानवी गुणों से ऊपर उठ जाती है। 'मधुरानी' 'संदीप' की ओर वास्तव में आकर्षित हो जाती है और अंत में उसे प्रायश्चित्त करना होता है और उसका मोह स्खलित हो जाता है परन्तु सुनीता प्रारम्भ से ही सतर्क है और मोह-बन्धन उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाते। सुनीती प्रारम्भ से ही पतिपरायण रहती है और हरि के प्रति उसका आकर्षण कभी किसी मोह को लेकर नहीं होता। हरि के प्रति वह स्नेहशील है, प्रेमशील नहीं। गृहणी-धर्म के प्रति वह सर्वदा जागरूक है और 'हरि' के प्रति उसके आकर्षण का भी प्रधान कारण उसकी पतिनिष्ठा ही है। सुनीती की भाँति सुनीता के पति का भी चरित्र बहुत महान है, जो अपने मित्र के

जीवन को क्रमबद्धता प्रदान करने के लिए अपनीस्त्री को साधन-रूप में प्रयोग कर सकता है ऐसा मित्र देवताओं में भी उपलब्ध हो सकना कठिन है।

(उपन्यास आदि से अंत तक समस्याओं का समाधान मात्र है, जिसमें 'घर' और 'बाहर' की समस्या, 'स्व' और 'पर' की समस्या, 'मैं' और 'मेरा' की समस्याओं को लेकर लेखक ने आधुनिक बुद्धिवादी-दृष्टिकोण के अंतर्गत विचार किया है।)भेद में अभेद देखने का यह जेनेन्द्र जी का प्रयत्न उन्हें उपन्यासकार से ऊपर उठा कर ले गया है और हो सकता है कि विचारक के नाते उनका कुछ महत्व बढ़ा हो परन्तु उपन्यासकार के नाते तो निश्चित रूप से घटा ही है। कविता क्षेत्र में रहस्यवाद, छायावाद, अभिव्यंजनावाद इत्यादि के चक्कर में पड़कर साहित्यिक-सौंदर्य और मनोरंजन की प्रणाली को जैसी ठेस लगी है और साहित्य का जैसा अहित हुआ है उससे कम कुठाराघात करना मैं जैनेन्द्र जी के 'सुनीता' उपन्यास को भी नहीं मान सकता। विचार और तर्क की कसौटी पर कस कर चाहे इस उपन्यास के पात्रों को सजीव भले ही कह दिया जाये परन्तु स्वाभाविकता के क्षेत्र में तो मैं इन्हें कठपुतलियाँ ही कहूंगा, जिन्हें लेखक ने अपने दार्शनिक बनने के नशे में जी खोल कर नचाया है। 'हरि' को ज्ञान देने के लिये 'सुनीता' का नग्न प्रदर्शित करना अनौचित्य और अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा ही मैं मानता हूं। मनोरंजन की दृष्टि से यह उपन्यास शून्य है, कथा इसमें है ही नहीं, भरी पड़ी है कोरी दार्शनिकता, जिसके पाठक भी इने-गिने हैं और विचारक भी। मानव की दुर्बलता और सबलता को लेकर यह तर्क और वाद-विवाद का क़िला जो जैनेन्द्र जी ने बनाया है वह कोरा बालू का क़िला है जिसका वास्तविक जीवन से आज के प्रगतिवादी युग

में भी थोड़ा ही सम्बन्ध दिखलाई देता है, बल्कि नहीं दिखलाई देता।

जैनेन्द्र जी का चौथा उपन्यास 'कल्याणी' है जिसमें 'कल्याणी' की मूक वेदना और कर्तव्य-परायणता की कहानी है। 'कल्याणी' के प्रति डाक्टर 'असरानी' पुराने विचारों के व्यक्ति होने के नाते कल्याणी को पूर्ण रूप से गृहिणी देखना चाहते हैं और यहाँ तक कि एक बार उसे दुश्चरित्रा ठहरा कर मार-पीट भी बैठते हैं परन्तु कल्याणी सब सहन कर लेती है। 'कल्याणी' डाक्टरनी है और वह अपना पेशा छोड़ कर पूर्ण रूप से गृहिणी बनने को भी उद्यत है परन्तु ऐसा करने से गृहस्थी की आय कम हो जाती है और उसका चलना कठिन हो जाता है। इसी समस्या के अंतर्गत यह परिवार क्रिया और प्रतिक्रियाओं के आघात सहता हुआ चल रहा है। कल्याणी एक आदर्श पत्नी के रूप में अपने ऊपर आने वाले प्रत्येक आघात के प्रति सहनशील है और इसी सहन-शीलता का आश्रय लेकर आघात सहती-सहती एक दिन वह मूक हो जाती है। बस यही है 'कल्याणी' की कहानी, जो वकील साहब, ने जो कि जैनेन्द्र जी के मित्र हैं, कही है। यह कहानी उन्हीं के रजिस्टर से प्राप्त हुई थी और एकदम सच्ची कहानी है। 'कल्याणी' की भाँति लेखक के 'त्यागपत्र' उपन्यास की घटना भी सच्ची ही है। पुस्तक के प्रारम्भ में जैनेन्द्र जी ने लिखा है, "सर एम० दयाल जो इस प्राँत के चीफ़ जज थे और जजी त्याग कर इधर कई वर्षों से जीवन बिता रहे थे, उनके स्वर्गवास का समाचार दो महीने हुए पत्रों में छपा था। पीछे उनके कागज़ों में उनके हस्ताक्षर के साथ एक पाँडुलिपि पाई गई जिसका संक्षिप्त सार इतस्ततः पत्रों में छप चुका है। उसे एक कहानी ही कहिये। मूल लेख अंगरेज़ी में है। उसी का हिंदी उल्था यहाँ दिया जाता है।" 'विनोद' और 'मृणाल' इस उपन्यास के प्रधान पात्र हैं। 'मृणाल' 'विनोद' की बुआ है।

'विनोद' अपनी बुआ की कथा कहता है। 'मृणाल' का पालन-पोषण विनोद के घर पर उसी के माता-पिता द्वारा होता है। 'मृणाल' को पढ़ते समय अपनी सहेली के एक भाई से प्रेम हो गया। जब वह रहस्य 'विनोद' के माता पिता पर खुला तो उन्होंने 'मृणाल' को पीटा और तुरन्त उसका विवाह एक व्यक्ति से कर, उसे उसके साथ भेज दिया। 'मृणाल' सरल थी और एक दिन इसी सरलता में अपने प्रेमी के विषय में अपने पति से बतला देती है। जिसके फलस्वरूप पति का व्यवहार निर्दयता पूर्ण हो जाता है। बात यहाँ तक बढ़ती है कि वह एक दिन उसे घर से निकाल देता है। 'मृणाल' एक कोयले के व्यापारी की शरण लेती है और वहीं पर वह गर्भवती हो जाती है। फिर वह कोयले का व्यापारी भी उसे छोड़ कर कहीं चला जाता है और मृणाल की नौ महीने की बच्ची भी मर जाती है। इसके पश्चात २० वर्ष तक संसार में कष्ट सहन करती हुई मृणाल मर जाती है। 'विनोद' को जब बुआ की मृत्यु का समाचार मिला तो उस पर इतना असर हुआ कि उसने जजी की नौकरी से स्तीफ़ा दे दिया और वह विरक्त हो गया। यह है 'त्यागपत्र' की सम्पूर्ण कहानी।

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों की कथावस्तु

प्रेमचन्द अथवा वृन्दावनलाल वर्मा जी की भाँति जैनेन्द्र जी ने कथावस्तु को उपन्यास का प्रधान अंग मानना स्वीकार नहीं किया; परन्तु फिर भी आपके प्रारम्भिक उपन्यास 'परख' और 'तपोभूमि' की कथा बहुत क्रमिक और सुसंगठित है। 'परख' और 'तपोभूमि' की कथाओं में घटनाओं की संश्लिष्ठ योजना पर उपन्यास-कार ने पूरा पूरा ध्यान दिया है और उपन्यास के कहानी-तत्व की अवहेलना करके वह नहीं चल सका है। जैनेन्द्र जी के इन उपन्यासों में भी कथावस्तु और घटनाओं की प्रधा-नता तो नहीं है, प्रधानता मनोवैज्ञानिक चित्रण की ही है; परन्तु

उनका अभाव न होने से उपन्यास रोचक और अनुरंजकता लिए हुए हैं। इन उपन्यासों के पश्चात लेखक का झुकाव बिलकुल दार्शनिक चिंतन की तरफ़ हमें दिखलाई पड़ता है और उसी के फलस्वरूप आपका तीसरा उपन्यास 'सुनीता' कोरा तर्क-वितर्क का वितंडावाद मात्र रह गया है। उपन्यास के पाठक की मनोरंजन-पूर्ण कलात्मक सामग्री नहीं। कथावस्तु के विचार से यह उपन्यास बिलकुल असफल है परन्तु इसके पश्चात जो आपने 'कल्याणी' और 'त्याग पत्र' उपन्यास लिखे हैं उनमें एक क्रमिक कथा मिलती है। इन दोनों ही उपन्यासों की कथा क्रमिक है और उनमें कोरे मनोवैज्ञानिकता की झलक न मिल कर स्वाभाविकता भी आ गई है। जैनेन्द्र जी वास्तव में कभी शायद वृन्दावनलाल वर्मा जी की भाँति प्रारम्भ में एक व्यवस्थित कथा लेकर चलने का प्रयत्न नहीं कर सके हैं। जब आप उपन्यास लिखने बैठते हैं तो आपके मस्तिष्क और आपकी लेखनी का रुझान कथा और पात्रों के स्वाभाविक बहाव की तरफ़ न रह कर उनके तार्किक दृष्टिकोण पर झूल जाता है और उसमें जहाँ एक ओर गूढ़ चिंतन की रूप-रेखा के दर्शन होते हैं वहाँ दूसरी ओर उपन्यास तत्व की हीनता और फीकापन पाठक को खटकने लगता है। कथा का अरोचक होना अथवा अभाव होना उपन्यास के पाठक को एक ऐसे जंगल में आश्रय-विहीन करके छोड़ देता है जहाँ उसे मार्ग खोजना कठिन हो जाता है। वनस्थली में खिले हुए चारों ओर उसे फूल भी दिखलाई देते हैं और वृक्षों पर लगे हुए फल भी परन्तु उन्हें प्राप्त करके वहाँ से निकलने का मार्ग उसे दिखलाई नहीं देता। वह भौंचक्का सा रह जाता है चारों ओर देखता हुआ और उसके मन ने फल और फूलों को देख कर जो आनन्द लाभ किया भी है उसका वह भी नष्ट हो जाता है। बिल्कुल यही दशा जैनेन्द्र जी के पाठक की भी होती है। कथा के अभाव में उपन्यास की

रोचकता समाप्त हो जाती है और मनोवैज्ञानिक तर्क-वितर्क में वास्तविक चरित्र-चित्रण भी नहीं हो पाता। कहीं-कहीं पर जैनेन्द्र जी ने अभावुक होकर बुद्धि पर ज़ोर दिया है और कहीं-कहीं पर आवश्यकता से अधिक भावुक होकर बुद्धि को पीछे छोड़ दिया है। दोनों का सामंजस्य स्थापित करने में आपको दिक्कत हुई है और यही कारण है कि उपन्यासों में जितनी रोचकता आनी चाहिये थी उतनी नहीं आ पाई है। कथावस्तु के संश्लिष्ठ न होने पर भी लेखक चरित्र-चित्रण द्वारा ही पाठक को रिझा सकता है, परन्तु जैनेन्द्र जी ने अपनी दार्शनिकता की झोंक में आकर ऐसा करने का भी प्रयत्न नहीं किया। आपने अपने पात्रों को दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण का साधन बनाया है और इसमें आपको सफलता भी मिली है। इस प्रकार कथा संचालन और घटनाओं की योजना उपस्थित करने में हम जैनेन्द्र जी को असफल ही मानते हैं और यही कारण है कि आप हिंदी में एक नवीन मनोवैज्ञानिक धारा के प्रवर्तक होते हुए भी बहुत सफल उपन्यास-कार नहीं कहे जा सकते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जैनेन्द्र जी अपने बहुत कम पाठक बना सके हैं और उन्हें उपन्यास क्षेत्र में सर्वप्रियता नहीं प्राप्त हो सकी।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों के निर्माण पर विशेष बल दिया है। 'कट्टो', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'मृणाल' इत्यादि पात्रों की रचना करके लेखक ने नारी-जीवन की सुन्दर विश्लेषणात्मक व्याख्या की है। इन पात्रों को लेकर जैनेन्द्र जी ने सामाजिक रूढ़ियों से टक्कर ली है और व्यक्ति को स्वतन्त्रता का वह मुक्त मार्ग दिखलाया है कि जिसपर चलकर व्यक्ति अपनी बुद्धि और अपने हृदय को विकास के व्यापक क्षेत्र में ले जा सके। जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में कल्पना से

काम न लेकर तर्क और बुद्धि से काम लिया है और व्यक्ति के विकास में भी भाग्य और परिस्थिति की अपेक्षा भावना और बुद्धि का ही विशेष हाथ रहा है। जैनेन्द्र जी के नारी-पात्र सब सहनशील हैं और समाज के दुर्व्यवहारों को सरल स्वभाव से सहन करते हैं।

जैनेन्द्र जी के पात्र सभी अपूर्ण हैं। लेखक के मस्तिष्क में रहस्य और मनोविज्ञान प्रथम आता है और अपने पात्र बाद में। यही कारण है कि लेखक अपने रहस्यों के उद्‌घाटन के प्रति अधिक जागरूक है और अपने पात्रों के प्रति कम। जैनेन्द्र कुमार के पात्र स्वतन्त्र नहीं परतन्त्र हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के पात्रों की स्वतन्त्रता को छीनने वाली हैं उनकी परिस्थितियाँ और जैनेन्द्र जी के पात्रों की स्वतन्त्रता लूटी जाती है उनके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा। जैनेन्द्र जी की रचनाओं पर उनका मनोविज्ञान ऐसा भूत बन कर छा गया है कि उनकी रचनाओं की कमनीयता नष्ट-प्राय हो गई है, मनोहरता विलुप्त हो चुकी है और सजीवता छिन्न-भिन्न हो रही है, जरजरित हो रही है। जैनेन्द्र जी के पात्र कहीं-कहीं संसार से ऊपर उठ कर दानी और त्यागी बन जाते हैं। रूढ़िवाद का खंडन आप करते अवश्य हैं परन्तु आपके स्त्री पात्र तो प्राचीन रूढ़िवाद के कनपकड़े दास हैं जो सामाजिक बन्धनों को तोड़ना तो दूर की बात है उनसे बाहर भी कभी नहीं जा सकते। उनका प्रगतिवादी-प्रतीत होना उपहास मात्र है, व्यक्ति का उपहास। इन्हें मैं जैनेन्द्र जी के व्यंग्य-चित्र अवश्य मान सकता हूँ परन्तु ऐसा मानने के लिए लेखक उद्यत नहीं होगा और वह इसे अपने साथ समालोचक का दुर्व्यवहार कहेगा, परन्तु वास्तव में यह सत्य है। यह पात्र यदि सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करने की सामर्थ्य अपने में नहीं रखते तो फिर क्या मनोवैज्ञानिकता है और यह कैसा बुद्धिवाद है? कोरा ढकोसला ही तो है।

जनेन्द्र जी जसे प्रतिभाशाली कलाकार को ऐसे पात्र प्रस्तुत करना शोभा भी नहीं देता। इन पात्रों को फिर भी गढ़ने में लेखक ने अपने मस्तिष्क पर ज़ोर दिया है और चाहे यथार्थवादी चित्र न वन सके हों परन्तु यह कुछ विचित्र अवश्य है और कहीं-कहीं पर प्रगति की रूपरेखा भी इनमें बहुत सुन्दर प्रस्फुटित हुई है। जैनेन्द्र जी के सभी पात्र एक दूसरे पर आश्रित होकर चलते हैं और स्वतंत्र रूप से अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखते। यह उनके पात्रों की दूसरी विशेषता है। इसे अच्छा या बुरा मैं यहाँ नहीं कह रहा। 'कट्टो' का 'बिहारी' के बिना कुछ महत्व नहीं और 'बिहारी' का 'कट्टो' के बिना और 'सत्यधन' के बिना वह दोनों ही पात्र अविकसित रह जाते हैं। वास्तव में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में जो दक्षता जैनेन्द्र जी को प्राप्त है वह बहुत कम लेखकों को मिल सकी है परन्तु इससे पात्र का एकाँगी स्वरूप ही विकसित हो पाता है बहुअंगी स्वरूप नहीं और पात्र एक विशेष परिस्थिति के अन्दर ही देखा और बरता जा सकता है। उस पात्र के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं होता और उसके दूसरे पहलू अधूरे ही रह जाते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि जैनेन्द्र जी हिंदी साहित्य को कोई ऐसा विशेष पात्र प्रदान नहीं कर सके कि जो पाठक के मस्तिष्क से उतर ही न सके। ऐसा कोई विशेष पात्र देने की क्षमता स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी में भी नहीं थी परन्तु कौशिक जी ने ऐसे पात्र प्रदान किए हैं और उनका स्थाई प्रभाव पाठक के हृदय और मस्तिष्क पर रहता है। जैनेन्द्र जी तो स्वयँ लिखते हैं, "व्यक्ति क्या एकाँगी के अतिरिक्त सर्व सम्पूर्ण हो भी सकता है ?......अमुक के Relations में किसी एक के Relations क्या हैं इसे दिखाते दिखाते यदि मैं कहीं भी आत्मा के गहरे को छू जाता हूँ, तो यही मेरे लिए बहुत है।" यह है लक्ष्य, ध्येय। वह स्वयँ भी सर्व-सम्पर्ण चित्राँकन

नहीं करता। वह स्वयँ पात्रों को एक साधन रूप में प्रयोग करना चाहता है और इसीलिए वह अपनी समस्याओं की परिधि से बाहर ले जाकर उनपर दृष्टि डालना उचित नहीं समझता। मैं इसे लेखक की संकुचित मनोवृत्ति ही कह सकता हूँ। व्यर्थ बाल की खाल निकालना विशेष ज़िद है (Whim) जिसपर लेखक स्वयँ अपने दर्शन के चमत्कार में फूल कर कुप्पा भी हो सकता है, और सफलता मान कर प्रसन्न भी। मैं इसे कमी कहता हूं और पात्र के जीवन-तत्वों में पूरी तरह न घुस पाने से ही ऐसा होता है। यह लेखक के अंदर पात्र के प्रति सहानुभूति नहीं है बल्कि अपनी समस्या के प्रति सहानुभूति है। वह उलट-पलट कर अपनी समस्या से ही टक्कर लेता है और उन्हीं के झमेले में ले जाकर अपने पात्रों को फँसा देता है। पात्र भी बेचारे बिके हुए जानवरों अथवा आचार्य चतुरसेन के 'वैशाली की नगर वधू' वाले नर-नारी-दासों की भाँति लेखक की लेखनी की नोक पर नाचते हैं और वह जैसा उनसे करने के लिए कहता है वैसा वह करते हैं। अन्त में हम यही कहेंगे कि जैनेन्द्र जी जैसे अपने विचारों के प्रति जागरुक रहे हैं यदि उतने या उससे कुछ कम अपने पात्रों के प्रति भी सहृदय रहे होते और चाहे उन्होंने कहानी और घटना-तत्वों को बिल्कुल ही भुला दिया होता, तब भी आपके उपन्यासों में जान पड़ जाती और कुछ रोचकता आजाने से उनके साथ पाठक कुछ सहानुभूति कर पाते।

जैनेन्द्रजी की शैली के अन्तर्गत हम ऊपर कथावस्तु और चरित्र-चित्रण पर विस्तार के साथ विचार कर चुके हैं। शैली पर विचार करने के लिए अब हमारे सम्मुख तीसरा प्रधान तत्व भाषा का रह जाता है। जैनेन्द्र जी की लिखने की टेकनीक में नवीनता है और भाषा में प्रभावात्मकता।

जैनेन्द्र जी की शैली

भाषा रचना का बाहरी कलेवर मात्र है और बाहरी कलेवर का भी रचना पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। यों तो जैनेन्द्र जी ने सभी दिशाओं में नवीनता लाने का प्रयत्न किया है परन्तु विशेषरूप से सफलता आपको मनोवैज्ञानिक चित्रण में ही मिली है। जैनेन्द्र जी की भाषा में अँग्रेज़ीपन इतना अधिक है कि कहीं कहीं पर तो खटकने भी लगता है। इस प्रकार की खिचड़ी भाषा लिखने का आज युग नहीं रहा। उर्दू के शब्दों को तो किसी प्रकार सहन भी किया जा सकता है परन्तु उन अप्रयुक्त शब्दों का सहन करना तो निताँत कठिन हो जाता है जिनका समझना थोड़े पढ़े-लिखे अंग्रेज़ी जानने वालों के लिए कठिन हो जाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि जैनेन्द्र जी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में एक नवीन धारा लेकर आए और उन्होंने उपन्यास को कोरी कथा कहने के क्षेत्र से उठाकर मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण के गम्भीर क्षेत्र में रख दिया। उपन्यास कोरे मनोरंजन से चिंतन का भी विषय बन गया और गम्भीर समस्याओं के सुझाव का साधन भी। उपन्यास की यह नवीन रूपरेखा प्रस्तुत करके जैनेन्द्र जी ने हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है और विचारकों को भी उपन्यास-क्षेत्र में स्थान दिया है। इस दिशा में आपका प्रयास पूर्णरूप से सफल है और सराहनीय भी। आपने अपने पात्रों को अपनी समस्याओं की कसौटी पर कसा है और जहाँ जहाँ जो पूरा उतरा है वहाँ उसे फ़िट किया है। इस प्रयास में पात्रों के साथ कुछ अन्याय अवश्य हुआ है परन्तु आदर्श और समस्या के साथ न्याय करने के लिए लेखक ऐसा करने पर मजबूर था। यहां हम यही कहेंगे कि जैनेन्द्र जी जब उपन्यास लिखने बैठते हैं तो उन्हें समस्या को गौण और पात्रों को प्रधान स्थान देना चाहिये। ऐसा न करके लेखक ने उपन्यास-कला के साथ भी अत्याचार किया है। एक ओर तो

लेखक अपनी समस्या पूर्ति के लिए उपन्यास को साधन बनाता है और दूसरी ओर समस्या के लिये उपन्यास-कला का बलिदान देने पर उतारू हो जाता है। यह बात कुछ अखरने लगती है, परन्तु लेखक स्वतंत्र है। वह जो कुछ लिखता है अपने विचारों के बंधन खोलकर लिखता है। यह उपन्यास-तत्वों पर कुठाराघात हो रहा है केवल इसलिए हम लेखक की लेखनी को बन्दी नहीं बना सकते। यदि उसे विचारक बनना है तो वह विचारक बनेगा और उपन्यासकार बनना है तो उपन्यासकार। परंतु साथ ही लेखक भी पाठकों को धोखा देने में सफल नहीं हो सकता। भेड़िये की खाल ओढ़कर भेड़ कितने क़दम चल सकती है और कहाँ तक अपने प्रभाव से दूसरों को प्रेरित कर सकती है ? समालोचक और लेखक दोनों को ही इन बातों से सतर्क रहना चाहिये और आज के यथार्थवादी युग में यथार्थ-चित्रण का ही आश्रय लेकर दूध का दूध, पानी का पानी करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी में लेखक, समालोचक और साहित्य का हित है।

(११)

इलाचन्द 'जोशी'

(१६०२—जीवित)

[मनोवैज्ञानिक चित्रण को लेकर हिन्दी उपन्यास साहित्य में श्री जैनेन्द्र जी आए, परन्तु उनकी रचनाओं में गाँधी-युग की साकार प्रवृत्ति दबे हुए रूप में लक्षित होती है। जैनेन्द्र जी के स्त्री पात्र अपने पतियों द्वारा पिट कर सहनशील हो जाते हैं परन्तु इलाचन्द जोशी की 'जयंती' पशुबल के सम्मुख चूल्हे पर बैठ कर भस्म होना जानती है। इलाचन्द जी जिस मानसिक-विश्लेषण की कसौटी को लेकर उपन्यास साहित्य में आये उसका प्रभाव फ्रायड इत्यादि की विचार-धाराओं से प्रेरित होकर योरोपीय उपन्यासकारों पर पड़ चुका था। फ्रायड, जुंग, एडलर इत्यादि विचारकों का मत है कि मानव ने सभ्यता और संस्कार के नीचे पशु-प्रवृत्तियों को बराबर दबाने का प्रयत्न किया है। यह प्रवृत्तियाँ ऊपर से दबी और मिटी हुई अवश्य प्रतीत होती हैं परन्तु वास्तव में उनका अस्तित्व मिट नहीं सकता और वह किसी न किसी रूप में हमारे अन्दर वर्तमान रहती हैं। मानव जब सभ्यता का ढोंग रच कर उन प्रवृत्तियों को अधिक दबाने का प्रयत्न करता है तभी वह प्रवृत्तियाँ और अधिक जागरूक हो उठती हैं और मानव के स्वभाव में एक ऐसी विचलन पैदा कर देती हैं कि उसका जीवन अस्थिर हो उठता है। इन्हीं समस्याओं को लेकर मानव और समाज का जीवन संचालित होता है और इन्हीं समस्याओं पर इन विचारकों ने विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। इन समस्याओं से प्रेरित होकर डास्टायवस्की जैसे सफल कलाकारों

ने ऐसी सुन्दर रचनायें की हैं कि उनके पात्र वास्तविकता को लेकर और भी सजीव हो उठे हैं। परन्तु डास्टायवस्की ने अपने उपन्यासों में प्रधानता समस्या को न देकर पात्रों को दी है। पीछे जैनेन्द्र जी के उपन्यासों पर विचार करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि उनकी रचनाओं में उपन्यास-कला का अभाव केवल इसी लिए आया कि उन्होंने विचारों और समस्याओं को व्यक्ति और पात्र पर प्रधानता दी। योरोप में भी इस काल में जो लेखक समस्याओं में घुसकर सबल पात्रों का सृजन करने में समर्थ न हो सके वह अच्छे उपन्यास लिखने में भी असमर्थ ही रहे हैं। योरोप की इस धारा का प्रभाव हिन्दी के उपन्यासकारों पर भी हुआ और इस धारा में बहने वाला पहिला सबल उपन्यासकार इलाचन्द जोशी है। जोशी जी के उपन्यासों में चिंतन की वह रूपरेखा मिलती है जहाँ पाठक कभी-कभी दाँतों के नीचे उँगली काट कर ही रह जाता है। इलाचन्द जी के उपन्यासों में चिंतन और कला का समन्वय है और ऐसी बलवान प्रेरणा है कि पाठक के मस्तिष्क तथा हृदय में वह एक उथल-पुथल मचा डालते हैं। मानव के कार्य-व्यापारों में दबी हुई सूक्ष्मतम प्रवृत्ति को अपनी पैनी दृष्टि से खोज निकालना जोशी जी को आता है। आपने अपने उपन्यासों में सिद्धाँतों के निरूपण के लिए कहीं पर भी उपन्यास अथवा उसके पात्रों के साथ अन्याय नहीं किया; पात्रों का विकास स्वाभाविक रूप से होने दिया है। मैं जोशी जी को आज के युग का सबसे सफल मनोविश्लेषक मानता हूँ। आपके साहित्य में बल है, प्रेरणा है, उद्देश्य है, क्राँति है और जाग्रति का अमर संदेश है।

'सन्यासी'

उसका संदेहशील स्वभाव उसे शाँति प्रदान न कर सका। 'शाँति' से उसने विवाह किया और 'शाँति' उसे हृदय से प्रेम करती थी, पर मन में संदेह उत्पन हो गया। 'शाँति' नंदकिशोर के भाई द्वारा तिरस्कृत होकर गृह त्याग देती है। फिर नन्दकिशोर ने'जयन्ती' से विवाह कर लिया परन्तु वहाँ भी दोनों के बीच में 'कैलाश' आ गया। 'कैलाश' और जयन्ती का प्रेम उसे असहनीय था। एक दिन 'नन्दकिशोर' 'कैलाश' को अपने घर से पीट कर निकाल देता है। जयन्ती यह सहन न कर सकी और वह चूल्हे पर जलकर भस्म हो गई। जयंती के जलने का नन्दकिशोर पर बहुत भारी प्रभाव हुआ और वह कई वर्ष तक इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहा। अन्त में वह 'शाँति' के पास पहुँच गया। परन्तु 'शाँति' अब दुःखी थी और वह पूर्ववत जीवन का आनन्द न ले सकी। एक दिन वह सब बन्धनों से मुक्त होकर चली जाती है। 'नंदकिशोर' नेता बन कर जेल चला जाता है और छूटने पर वह खाली हाथ रह जाता है। अब वह एक संन्यासी है और यही सन्यासी की आत्म-कहानी है।

'सन्यासी' उपन्यास में कथा तत्व का अभाव है और लेखक ने कथा को लेकर रचना भी नहीं की हैं। वह तो अपने पात्रों को लेकर चला है और उनका सहानुभूति के साथ चित्रण किया है। उपन्यास पूर्ण रूप से चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यास है। करीब छः पात्रों को लेकर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया गया है और सभी पात्रों का अध्ययन लेखक ने कुशलतापूर्वक किया है। कथा-नायक 'नंदकिशोर' है और उसी के चरित्र के विकास पर अन्य चरित्रों का विकास आधारित है। नन्दकिशोर स्वयँ इस कहानी को कहता है। कहानी तीन भागों में विभाजित की जा सकती है। प्रथम भाग शाँति के गृह-त्याग पर समाप्त हो जाता है, दूसरे भाग में 'जयन्ती' से सम्बन्ध स्थापित होता है, 'कैलाश'

का अपमान और 'जयन्ती' की आत्म-हत्या इसी दूसरे भाग में आते हैं; और तीसरे भाग में 'जयन्ती' की आत्म-हत्या के बाद का भाग आता है। तीसरे भाग में पात्रों का उपसंहार मात्र है, विकास नहीं। इसी लिए यह बहुत संक्षिप्त है। निरुद्देश्य होकर नंदकिशोर भ्रमण करता है और 'शाँति' से उसकी भेंट हो जाती है। यहीं पर 'शाँति' पति तथा पुत्र को छोड़कर लोप हो जाती है। उपन्यास में पात्रों की सूक्ष्मतम-वृत्तियों को छूने का लेखक ने प्रयत्न किया है। शाँति का चरित्र बहुत सरल और साफ है। उसमें कोई घुमाव फिराव नहीं, कोई कमज़ोरी नहीं। उसका चरित्र बहुत ऊँचा है, हृदय और बुद्धि दोनों ही उसके पास हैं। संवेदना की वह देवि है और दुःखी के प्रति द्रवित होना जानती है। बलदेव की कठिनाइयों से वह प्रभावित होती है, उसकी बहन को दुःखी देखकर दुःखी होती है। शाँति के जीवन में उत्साह है और साथ-साथ कठिन समय आजाने पर उसमें खड़े रहने की शक्ति भी। आत्म-सम्मान का कुचला जाना वह अपनी मृत्यु समझती है। मोह बन्धन उसमें है अवश्य पर समय पड़ने पर उससे अपने को मुक्त कर लेने की क्षमता भी उसमें वर्तमान है। इस उपन्यास में शाँति का चरित्र सबसे आदर्श-चरित्र है जिसके जीवन में मोह और त्याग का लेखक ने सुन्दर समन्वय किया है। 'शाँति' के चारित्र में सरलता है, दुरुहता नहीं। वह जैसी ऊपर से लगती है वैसी ही अन्दर से भी है। जो सोचती है वह करती है, और जो करती है वह कहती है और जो कहती है वह सत्य होता है, उसमें छल नहीं है, पाप नहीं है, धोखा नहीं है, विडम्बना नहीं है, विरोधाभास नहीं है, संदेहवृत्ति नहीं है, स्पष्टता है, सरलता है, गम्यता है अगम्यता नहीं। शाँति के अतिरिक्त अन्य सब पात्र पुरुष हैं। नन्दकिशोर जो कहता है वह करता नहीं, जो सोचता है वह कहता नहीं। उसके मन में कुछ

रहता है, और हृदय में कुछ रहता है। प्रदर्शित वह कुछ और करता है और कर कुछ और बैठता है। उसके चरित्र में स्थिरता का अभाव है और उसके मस्तिष्क में संदेहात्मक प्रवृत्ति का प्राबल्य है। उसका यही थोथापन 'शाँति' तथा 'जयन्ती' के जीवनों को नष्ट कर डालता है । 'कैलाश', 'जयन्ती' और 'बलदेव' के चरित्रों में भी दुरूहता है और विरोधी प्रवृत्तियाँ अनेक कार्यों में जन्म लेती हैं। साधारण रूप से देखने पर नन्दकिशोर जितना सरल दीखता है अन्दर से वह वैसा नहीं है। उसके हृदय की व्यापक संदेहवृत्ति उसके जीवन और उसके कार्यों में स्थिरता नहीं आने देती। वह अधिकार चाहने वाला आदिम-पुरुष का प्रतीक है, जिसकी कामनायें अतृप्त हैं और जो नारी की कोई सत्ता नहीं समझता। कल्पना उसके रोम-रोम से मुखरित होती है और उसका जीवन कल्पना पर ही झूलता है; परन्तु कर्तव्य के प्रति वह उदासीन है। 'नंदकिशोर' की तुलना हम जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' में चित्रित मनु से कर सकते हैं जो अधिकार और संदेह की भावनाओं से प्रेरित होकर 'कामायनी' तथा अपने 'पुत्र' को छोड़कर चला जाता है। दोनों ही अपनी विषय-कामनाओं को जीवन के कर्तव्यों पर प्रधानता देकर चल देते हैं। 'नन्दकिशोर' 'शाँति' को घर से निकाल देता है और 'मनु' 'कामयनी' को छोड़ कर स्वयँ कहीं दूर देश के लिए चल देता है। विडम्बना दोनों के जीवन की एक ही है। 'कैलाश' और 'जयन्ती' के चित्र बहुत निखरे हुए हैं। लेखक ने इन दो पात्रों का चित्रण बहुत कलात्मक ढंग से किया है और बहुत सजीवता उनमें आगई है । 'जयन्ती' की आत्महत्या अवश्य कुछ खटकने वाली चीज़ है। इससे लेखक की अरुचि का आभास मिलता है।

उपन्यास में आद्योपाँत व्यक्तियों के जीवनों का स्पष्टीकरण ही लेखक ने किया है। सुन्दर कथनोपकथनों में जीवन और

जगत के रहस्यों का उद्‌घाटन है जिसमें लेखक को पर्याप्त सफ-लता मिली है। पुस्तक में व्यर्थ का कलेवर बढ़ाने का कम प्रयत्न मिलता है और नपी-तुली बात ही जोशी जी ने बहुत कलात्मक ढंग से कही है। उपन्यास अपने ढंग की बहुत सुन्दर रचना है और उपन्यास-साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण का उद्‌घाटन करती है। मनोविश्लेषण के विचार से यह हिन्दी-जगत की प्रथम रचना है और मानव के मानसिक जगत का इसमें सजीव चित्रण लेखक ने किया है।

जोशी जी की तीसरी रचना 'पर्दे की रानी' है, जिसकी रचना में लेखक की मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ और भी प्रखर हो उठी हैं। उपन्यास चरित्रात्मक है। जिसमें लेखक ने दिखलाया है कि पूर्व-अर्जित संस्कार मनव के जीवन और उसकी क्रिया तथा प्रतिक्रियाओं पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं। उपन्यास की नायिका है 'निरंजना'। 'निरंजना' की माता वेश्या है और पिता एक हत्यारा? सोलह वर्ष तक 'निरंजना' सभ्य बालिकाओं की भाँति अपने जीवन पथ पर अग्रसर होती है और लाड़-प्यार में पलती है। माता ने मृत्यु-समय 'निरंजना' को 'मनमोहन' के संरक्षण में छोड़ दिया। मनमोहन का कामुक पुत्र 'इन्द्रमोहन' अपनी वासना-तृप्ति के लिए उसके रूप पर आसक्त हो उठा। विलायत से लौट कर अभी-अभी इन्द्रमोहन आया था, धन की उसके घर में कमी नहीं थी। 'इन्द्रमोहन' को आकर्षित करने वाली 'निरंजना' एक दिन शराबी 'इन्द्र' द्वारा होटल में शरीर-भोग की इच्छा प्रकट करने पर संत्रस्त हो उठी। इसी काल के बीच एक दिन मनमोहन ने भी 'निरंजना' के सम्मुख कुछ वैसा ही प्रस्ताव रखा और उसकी माँ तथा पिता के इतिहास का रहस्योद्‌घाटन उसके सम्मुख कर डाला। 'निरंजना' का सुकुमार हृदय चूर-चूर हो गया और उसका

पर्दे की रानी

जीवन-पथ अंधकारमय जीवन की एक समस्या बन उठा। 'निरंजना' ने 'मनमोहन' का आश्रय छोड़ दिया और वह छात्रावास में चली गई। छात्रावास में 'निरंजना' की मित्रता 'शीला' नाम की एक संभ्राँत परिवार की छोकरी से हो जाती है। कॉलेज छोड़ने के कई वर्ष पश्चात् 'निरंजना' की भेंट मंसूरी में 'शाँता' से होती है। 'शाँता' का पति उसके साथ है और भाग्यवश शाँता का पति 'इन्द्रमोहन' ही है। 'इन्द्रमोहन' की पहिली भूख फिर जागृत हो उठती है और वह फिर 'निरंजना' को अपनी ओर आकर्षित करने के प्रयत्न में जुट जाता है। 'निरंजना' भी अपने पूर्व वेश्या-पुत्री होने के संस्कारों से प्रेरित होकर 'इन्द्रमोहन' को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है और प्रयत्न करती है। 'इन्द्रमोहन' और 'निरंजना' दोनों पशु-प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर उन्माद की दशा को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु इन दोनों के बीच आई हुई है मानवता की प्रतीक 'शीला' और वही 'निरंजना' की दानव-प्रवृत्तियों के सामने विराम बन कर खड़ी हो जाती है। वह इन्द्रमोहन के प्रस्ताव को दूर करती हुई कहती है, "'शीला' के प्रति मेरे हृदय में बराबर एक सच्चा सम्मान और सहृदय आत्मीयता का भाव वर्तमान रहा है। मैं सोचकर स्वयँ आश्चर्य में हूँ कि अपनी किस भयंकर मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मैं इतने दिनों तक सब कुछ समझते हुए भी शीला को इस हद तक मार्मिक चोट पहुँचाने में समर्थ हुई। शीला अत्यन्त सहानुभूतिशीला और समझदार है, वह ओछी नहीं है, इसलिए कभी अपने मन की वास्तविक वेदना को प्रगट नहीं होने देगी। पर उसकी प्रकृति की उस सुरुचि और संयम का इस तरह अनुचित लाभ उठाना वास्तव में हम दोनों की निपट हीनता का परिचायक है। मैं वास्तव में उसकी परम शत्रु हूँ फिर भी मैं उसकी शत्रुता को चरमसीमा तक नहीं पहुँचाना चाहती।

विश्वास मानिए कि इस समय मुझमें आप से कुछ कम उन्माद नहीं समाया हुआ है, पर मेरे प्रतिरोध का केवल कारण शीला है। जब तक शीला जीवित है तब तक आप मुझसे हर्गिज़ ऐसी आशा न करें।" मदाँध 'इन्द्रमोहन' 'निरंजना' के यह वाक्य सुनकर षड्यंत्र रच डालता है। उसके अन्दर की पशु-प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं। वह मंसूरी से चला जाता है और कुछ दिन पश्चात् उसके सामने फिर एक विचित्र वेशभूषा में उपस्थित होता है। मूंछ दाढ़ी बढ़ी हैं और वस्त्र फटे हुए हैं। हृदय-गति बन्द होजाने से शीला की मृत्यु हो गई—यह दुखद समाचार वह 'निरंजना' को देकर कहता है कि शीला के मरजाने पर अब उसका जीवन फीका हो चुका है और अब उसकी कोई रुचि जीवन में नहीं रह गई है। 'इन्द्रमोहन' का अभिनय 'निरंजना' को प्रभावित कर देता है। नारी सुलभ करुणा 'निरंजना' के हृदय में जागृत हो जाती है और वह समर्पण की भावना को लेकर 'इन्द्र' के साथ जहाँ वह चाहे जाने को उद्यत हो जाती है। 'इन्द्रमोहन' अपने षड्यन्त्र में सफल होकर 'निरंजना' को लेकर नैपाल के लिए रवाना होता है। ट्रेन में ही प्रथम बार वह 'निरंजना' का कौमार्य खंडित करता है और बस यहीं पर इन दोनों का प्रथम और अंतिम मिलन है, जिसके फलस्वरूप 'निरंजना' गर्भवती हो जाती है। यहीं पर 'इन्द्र' अपने षडयन्त्र की सच्ची गाथा 'निरंजना' को कह सुनाता है, जिसे सुनकर 'निरंजना' घृणा और क्रोध से पागल हो उठती है। उसका तन-मन सब आँदोलित हो उठते हैं। 'इन्द्रमोहन' के प्रति उसके मन में अत्याधिक घृणा का भाव जागृत हो उठता है। 'इन्द्रमोहन' इस समय पशु के समान पागल होकर अपने समस्त विवेक को खो बैठता है और अपने प्रेमाधिक्य को प्रमाणित करने के लिए चलती ट्रेन से कूद कर प्राण दे देता है।

'निरंजना' ऐसी परिस्थति में अपने गुरु के पास पहुँच कर अपनी यह आत्म-कहानी सुनाती है। गुरु उसे आदेश देते हैं कि वह अब माता है और माता के कर्तव्य का पालन करना उसका कर्तव्य है। 'पर्दे की रानी' की यही संक्षिप्त कहानी है, जिसमें जोशी जी ने मानव की मानव और पशु प्रवृत्तियों को बहुत ही सुचारु रूप से संचालित किया है। कौन प्रवृति किस समय प्रबल हो उठती है और उसका जीवन पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ता है, इसका सजीव चित्रण इस उपन्यास में है। मानव के मन की चेतन और अवचेतन प्रवृत्तियों और उनके क्रिया-कलापों का जितना सुन्दर चित्रण जोशी जी ने किया है उतना हिन्दी का कोई भी अन्य उपन्यासकार नहीं कर पाया है। 'निरंजना' के जीवन में दो प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से लक्षित होती हैं। एक संस्कार-जन्य है और दूसरी उसकी सुशिक्षित तर्क-बुद्धि से प्रेरित होकर आती है। संस्कार-जन्य प्रवृत्ति में पाशविक बल की प्रधानता है और सुशिक्षित प्रवृत्ति में मानवीय भावनाओं की प्रेरणा है। वह 'इन्द्रमोहन' को अपने रूप पर आकर्षित कराती है, 'इन्द्र' की पाशविक-प्रेरणा को प्रस्फुटित होने के लिए सहा-नुभूति और आकर्षण प्रदान करती है। जैनेन्द्र जी की 'सुनीता' की भाँति 'हरि' के सम्मुख नारी का नग्न रूप दिखला कर वास्तविकता का ज्ञान नहीं कराती। यही कारण है कि 'इन्द्र' की अवेचन-प्रवृत्तियाँ चेतन प्रवृत्तियों को दबा लेती हैं और अन्त में वह 'शीला' को समाप्त करके भी 'निरंजना' को प्राप्त करने का पाशविक प्रयत्न करता है। 'निरंजना' में जब-जब अवचेतन प्रवृत्ति से ऊपर उठकर चेतन प्रवृत्ति बलवती होती है तो वह 'शीला' के प्रति सहानुति से भर जाती है और कभी यह दुःसाहस करने का प्रयत्न नहीं करती कि उसके रहते अपना और 'इन्द्र' का मिलन सम्भव मान सके। वह सरलता में एक बार यह कह

भी जाती है, "जब तक शीला जीवित है तब तक आप मुझ से हर्गिज़ ऐसी आशा न करें।" निरंजना के यह शब्द 'इन्द्र' को और भी पशु बना डालते हैं और वह शीला को समाप्त करके 'निरंजना' को प्राप्त करलेता है। 'इन्द्र' की भूख उसे निश्चित स्थान तक भी नहीं पहुँचने देती और वह रेलगाड़ी में ही रहस्योद्घाटन कर डालता है जिसके फलस्वरूप 'निरंजना' की चेतन प्रवृत्तियाँ एकदम जागरुक होकर उसे धिक्कार उठती हैं और वह पागल सी हो जाती है। 'निरंजना' के चरित्र का चित्रण करने में लेखक ने बहुत कुशलता से काम लिया है। 'इन्द्रमोहन' कामुक व्यक्ति है, जो अपनी वासनातृप्ति के लिये अपनी स्त्री के भी प्राण लेने पर उतारु हो सकता है, वह ऐसा बदमाश है। ऊपर से रईसी आवरण में छुपे रहने के कारण उसकी पशुता दिखलाई नहीं देती परन्तु उसके अन्दर मानवता का कहीं पता ही नहीं है और जीवन में अवचेतन प्रवृत्तियों का ही आश्रय लेकर वह चलता है। विलायत हो आया है, सभ्य लोगों में बैठता-उठता भी है परन्तु चेतना-शक्ति का उसके जीवन में निताँत अभाव है। 'शीला' और 'गुरूजी' के चरित्र एकाँगी हैं जिनमें जो कुछ भी है वह बहुत सरल है, कहीं पर भी कुछ घुमाव-फिराव नहीं। कथनोपकथन इस उपन्यास में बहुत सुन्दर हैं और लेखक ने थोड़े में बहुत कहने का प्रयत्न किया है। व्यर्थ के लिए उपन्यास का कलेवर नहीं बढ़ाया। मनोविश्लेषण की प्रधानता होने पर भी कथा और घटनाओं की एकदम इति श्री लेखक ने नहीं की है। चरित्र-चित्रण की प्रधानता है और इसी पर लेखक ने विशेष बल भी दिया है। पाठकों के अनुरंजन के विचार से भी यह उपन्यास पूरा उतरता है और लेखक ने इसमें सजीवता लाने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। मार्मिक-स्थलों को लेखक ने बहुत कुशलता के साथ छुआ है और परिस्थितियों के

की ओर 'पारसनाथ' आकर्षित हुआ। दूसरे दिन 'मंजरी' ने 'पारसनाथ' को बतलाया कि वह अपना रूप प्रदर्शन अपनी दरिद्रता की पूर्ति के लिए करती है। वह कॉलेज में पढ़ती है और उसके ऊपर उसकी माँ का भी भार है। इसी समस्या ने उसे यहाँ होटल में आकर इस प्रकार का आचरण करने के लिए बाध्य किया है। 'मंजरी' की शारीरिक पवित्रता पर 'पारसनाथ' और भी आकर्षित होता है और उसके घर पर भी आना-जाना प्रारम्भ कर देता है। वह परिवार को आर्थिक सहायता भी देता है और उनके साथ पूर्ण सहानुभूति प्रकट करता है। एक दिन मंजरी की माता का प्राणाँत हो गया और 'मंजरी' 'पारसनाथ' के घर चली गई। 'मंजरी' को एक दिन 'पारसनाथ' ने अपनी पूरी कहानी सुना डाली 'पारसनाथ' हीन अवस्था में हीन कार्य करने वाले से घृणा नहीं करता। वह 'मंजरी' के प्रति बराबर आकर्षित होता चला जाता है और एक दिन उन दोनों का यौन-सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। 'मंजरी' के निकट आजाने पर भी 'पारसनाथ' के जीवन में स्थायित्व न आया। वह प्रेतात्माएँ उसे बराबर घेरे रहीं। उसके जीवन की निर्बलता ने उसे भय और दुश्चिंताओं का शिकार बनाए रखा। भ्राँति और परेशानी से उसका मन तथा हृदय मुक्ति न प्राप्त कर सका। 'पारसनाथ' भुजौरिया जी की पत्नी 'नन्दिनी' को चित्रकला सिखलाता था। उससे भी उसकी घनिष्ठता बढ़ती जा रही थी। 'पारसनाथ' की अब रात्रियाँ भी वहीं पर कटने लगीं। 'नन्दिनी' एक वेश्या थी और भुजौरिया जी से उसने विवाह केवल इसलिये किया था कि उसका जीवन इधर-उधर न भटक पाए। परन्तु भुजौरिया जी ने उससे विवाह इसलिए किया था कि वह उसे धनोपार्जन का साधन बनायें। 'पारसनाथ' के सम्पर्क में आकर 'नन्दिनी' मोहित होकर उस पर रीझ उठी और उसे भी रिझाने में उसने अपनी वेश्या-वत्ति

का पूर्ण प्रदर्शन किया। भुजौरिया जी इस पर बहुत कुपित हुए, परन्तु उसका कोई अर्थ न निकला और इन दोनों का सम्बन्ध दृढ़ होता चला गया। मंजरी अब गर्भवती थी। गर्भ में ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता था त्यों-त्यों पारनाथ का मन विक्षुब्ध होता जाता था। उसके मन को दुश्चिंतायें बराबर घेरती जा रही थीं। वह 'मंजरी' से भयभीत सा रहने लगा, डरा-डरा सा। जिस दिन बच्चे का जन्म हुआ वह रात भर 'मंजरी' के पास रहा परन्तु दुश्चिंताओं ने उसका पीछा न छोड़ा। उसके हृदय में एक ऐसी उथल-पुथल थी कि कोई भी शान्त-विचार पनपने नहीं पा रहा था। बच्चे को 'पारसनाथ' सहन नहीं कर सकता था। एक दिन कायर की भाँति वह 'नन्दिनी' के साथ बच्चे और बच्चे की माता को छोड़ कर भाग खड़ा हुआ। 'नन्दिनी' उसे लखनऊ में अपनी बहन के घर ले गई। वह वहां की प्रसिद्ध वेश्या थी। 'निन्दिनी' के प्रति भी 'पारसनाथ' चिरकाल तक स्नेह और प्रेम-पूर्ण न रह सका और उसके प्रति भी उसके व्यवहार में निर्दयता और कठोरता आ गई। 'नन्दिनी' ने वेश्या-वृत्ति धारण करके 'पारसनाथ' की उपेक्षा कर दी परन्तु फिर भी 'पारसनाथ' वहीं पड़ा-पड़ा रोटियाँ तोड़ता और शराब पीता रहा। कई बार दोनों में झगड़ा भी हुआ परन्तु नंदिनी उसका ध्यान बिल्कुल न भुला सकती थी। 'नंदिनी' 'पारसनाथ' से भय भी मानती थी और घबराती भी थी। 'नंदिनी' में से सहृदयता का आज भी निताँत ह्रास नहीं हो पाया था। 'पारसनाथ' ने यहाँ 'हीरा' को गाना बजाना सिखलाया और अन्त में वह इतनी कुशल हो गई कि उसका रोज़गार खूब ज़ोर से चल निकला। वह फिर 'हीरा' को लेकर कलकत्ते चला गया। यहाँ से वह 'हीरा' के आभूषण लेकर भागना चाहता था परन्तु इसी बीच एक ऐसी घटना सामने आई कि जिसका उसके जीवन पर उतना ही गहरा

प्रभाव पड़ा कि जितना उसके पिता के बतलाए हुए उस रहस्य से पड़ा था कि उसका जन्म उसकी माता और एक वैद्य के यौन-सम्बन्ध से हुआ था । 'पारसनाथ' की भेंट अपने पिता के पुराने नौकर से होती है और वह उसे उसके पिता के पास लिवा ले जाता है। पिता बीमार थे। पारसनाथ से बड़े प्रेम के साथ मिलते हैं। वह उसे बतलाते हैं कि वह वास्तव में उनका अपना ही पुत्र है और उसकी माता एक सच्ची सती स्त्री थी 'पारसनाथ' अवचेतन अवस्था से चेतन अवस्था को प्राप्त हो जाता है और उसके मन से 'हीरा' के आभूषण चुरा कर ले जाने की बात काफ़ूर हो जाती है। पिता उसे 'हीरा' से विवाह करने की आज्ञा देते हैं और वह उसे लेकर गृहस्थी बन जाता है। 'पारसनाथ' के 'नन्दिनी' के साथ भाग आने के पश्चात् 'मंजरी' का बच्चा मर जाता है और वह घर से निकल पड़ती है। नारी-संस्कृति-निकेतन में जाकर वह डाक्ट्री पढ़ने की व्यवस्था प्राप्त कर लेती है। कलकत्ते उसका फिर एक प्रोफ़ेसर से प्रेम हो जाता है और वह उससे शादी कर लेती है। कुछ दिन पश्चात डाक्टर मर जाता है। मंजरी अब कलकत्ते की एक विख्यात डाक्टरनी है। वहीं पर एक दिन 'पारस' की मंजरी से भेंट होती है, परन्तु मंजरी का व्यवहार 'पारसनाथ' के साथ बहुत ही कठोरता पूर्ण होता है।

यह समस्त उपन्यास 'पारसनाथ' की आत्मकथा है और उसके सम्पर्क में जो अन्य पात्र आए हैं उन पर भी हलके-हलके छींटे डाले गए हैं। 'पारस' के चरित्र का अध्ययन लेखक ने चेतन और अवचेतन परिस्थितियों में किया है और खूब किया है। प्रारम्भ में पारसनाथ एम० ए० पास करके जब कलकत्ते से आता है तो उसकी अवचेतन प्रवृत्तियाँ शाँत हैं और चेतन प्रवृत्तियाँ जागरूक। उसके अन्दर सहृदयता है, अध्ययन-शीलता है, जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने की क्षमता है, सभी कुछ है,

क्या नहीं है उसमें जो कि एक योग्य व्यक्ति के लिए आवश्यक है? परंतु पिता द्वारा माता की कलंकपूर्ण कहानी सुनकर उसके हृदय की और मस्तिष्क की परिस्थिति बदल जाती है और उसकी अवचेतन प्रवृत्तियाँ एकदम बलवती होकर इतनी जागरूक हो जाती हैं कि चेतन प्रवृत्तियों को उनके सम्मुख एक दम मौन हो जाना होता है। इस घटना के फलस्वरूप 'पारसनाथ' का जीवन एकदम ही बदल गया और बीच-बीच में कभी-कभी यदि चेतन प्रवृत्तियों ने बलवान बनने का प्रयत्न भी किया तो उसके मस्तिष्क की भयभीत परिस्थितियों ने उन्हें बलवती नहीं बनने दिया और वह उसे बलात धकेल कर अवचेतन प्रवृत्तियों के माया-जाल में फँसा कर ले गईं। 'मंजरी' के प्रति आकर्षित होना, उसे सहायता करना, उसके साथ विवाह करके कुछ दिन व्यवस्थित जीवन बिताना, चेतन प्रवृत्तियों का ही कार्य-कलाप था परन्तु फिर 'नन्दिनी' के चक्कर में फँसकर भाग निकलना और 'मंजरी' तथा अपने बच्चे का भी ध्यान छोड़ देना, दुबारा अवचेतन प्रवृत्तियों का प्रबल वेग है। स्थान-स्थान का भ्रमण करके और भाँति-भाँति की परिस्थितियों में मन को फँसा कर 'पारसनाथ' ने पिता द्वारा बतलाई गई माता की दुर्घटना को भुलाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह सब व्यर्थ सिद्ध हुआ और उसका अव्यक्त मन उसे भुलाने में असमर्थ नहीं रहा वरन् जितना भी भुलाने का प्रयत्न किया उतनी ही वह स्मृति और प्रखर रूप से उसके मस्तिष्क पर जड़ होती चली गई। जोशी जी ने 'पारसनाथ' के अंतर्द्वन्द्वों और मानसिक उथल-पुथल का इस उपन्यास में बहुत ही सजीव चित्रण किया है। 'पारसनाथ' का जब तक 'मंजरी' के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं होता उस समय तक उसके अव्यक्त मन का उसके दुःखी जीवन के साथ तदात्म हो जाता है और क्योंकि वह स्वयँ दुःखी है इसलिए सहानुभूति भी प्रकट करता है, परन्तु ज्योंही

उसका यौन-संबंध उसके साथ स्थापित हो जाता है तो उसे अपने माता के कृत्य की याद आ जाती है और उसके अवचेतन मन पर आघात पड़ता है। वह कायर की भाँति मंजरी से भय-भीत हो उठता है। उसकी चेतना अवचेतन मन में पड़ी हुई ग्रन्थि खोल नहीं पाती और वह फिर बन्धन-मुक्त होने के लिए छटपटाने लगता है। अन्त में वह नन्दिनी को लेकर भाग ही खड़ा होता है। माता के कलंकित जीवन की स्मृति और उसका संस्कार-जन्य प्रभाव 'पारसनाथ' के जीवन में वह बेचैनी पैदा करता है कि उसके मन और हृदय से स्थायित्व का एकदम लोप हो जाता है। 'मंजरी' के गर्भ से जब बच्चा उत्पन्न होता है तो उसे अपने पैदा होने का ध्यान आ जाता है और वह एकदम व्याकुल हो उठता है। वह साथ ही अपने नवजात शिशु से प्रतिशोध लेकर अपने अवचेतन मन की दहकती हुई ज्वाला को शाँत करता है। 'पारसनाथ' के पिता ने उसके मन को आघात पहुँचाया था और उसी प्रकार वह उस बच्चे को अनाथ छोड़ कर अपने पिता के कृत्य का बदला लेता है। 'पारसनाथ' की यह क्रिया अवचेतन मन की क्रिया है, चेतन मन की नहीं, यहाँ यह ध्यान देने योग्य समस्या है; जिसे न समझ कर कभी-कभी पाठक लेखक के प्रति ही अन्याय कर बैठते हैं। पिता ने 'पारसनाथ' की माता के विषय में जो सूचना 'पारसनाथ' को दी उससे उसके अव्यक्त मन पर एक जड़ प्रभाव पड़ा और उस जड़ प्रभाव में प्रतिशोध की भावना निहित थी। इसके पश्चात वह जीवन में इसी प्रतिशोध को लेकर अग्रसर होता है और अवचेतन अवस्था में केवल उसी समय तक भावुक रहता है और उसकी बुद्धि कुछ कार्य करती है जब तक उसका यौन-सम्बन्ध किसी स्त्री से स्थापित नहीं हो जाता। यौन-सम्बन्ध स्थापित होते ही उसके मन पर भूतात्मा का प्रभाव प्रबल हो उठता है और वह परवर्टेड मैंटलिटी से विचार करने लगता है।

मंजरी को छोड़ना, नन्दिनी के साथ भागना, नन्दिनी की बहिन को कलकत्ते भगा कर ले जाना, वहाँ उसके आभूषण चुराने का विचार करना, यह सब ऐसी क्रियाएं हैं कि जिनमें एक से दूसरी को बल मिलता है और 'पारसनाथ' बराबर मानव से पशु होता हुआ चला जाता है। उसकी पाश्विक प्रवृत्तियाँ उसकी मानवी प्रवृत्तियों को दबा कर उनपर अपना अधिकार जमा लेती हैं। परन्तु फिर जब उसे अपने पिता से अपने जन्म और अपनी माता के चरित्र का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तो उसका चेतन मन अवचेतन मन पर विजय प्राप्त कर लेता है और वह पिता से आज्ञा लेकर 'हीरा' से विवाह कर लेता है और उसके आभूषण इत्यादि चुराने की कल्पना या भावना को एकदम समाप्त कर देता है। इस उपन्यास में जोशी जी ने अपने सिद्धाँत निरूपण के लिए अदृश्य का चित्रण करने में बहुत सतर्कता और क्रम-बद्धता से काम लिया है और उसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। इस उपन्यास में जोशी जी को अपने सिद्धाँत-निरूपण का मोह इतना अधिक हो गया है कि उन्होंने जैनेन्द्र जी की भाँति जैसा कि उन्होंने 'सुनीता' में किया है, उपन्यास-कला को गौण और सिद्धाँत-निरूपण को प्रधान स्थान दे डाला है। अवचेतन मन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए ही जोशी जी ने पात्र चुने हैं और पात्रों में अवचेतन मन की स्थापना परिस्थिति-वश स्वयं नहीं होगई है। उपन्यास की कथा और उसकी परिस्थि-तियाँ, यहाँ तक कि वार्तालाप भी सिद्धाँत निरूपण के अनुकूल ही जोशी जी ने छाँट कर लिखे हैं। जोशी जी ने इस उपन्यास के लिखने में अपना केवल दृष्टिकोण ही वैज्ञानिक नहीं रखा वरन् कला को विज्ञान के लिए प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। कला विज्ञान की दासी बन कर नहीं चल सकती। विज्ञान के पास मस्तिष्क है, हृदय नहीं और कला के पास दोनों का समन्वय

हैं। इसीलिए तो दोनों का साथ-साथ निभाव सम्भव हो जाएगा, परन्तु जहाँ भी कला पर विज्ञान छा जाने का प्रयत्न करेगा वहीं पर रचना में कृत्रिमता आ जाएगी; वाक्य बने-बने से प्रतीत होंगे, परिस्थितियाँ घड़ी-घड़ी सी दीख पड़ेंगी, कला की अभिव्यंजना नीरस हो जाएगी, पात्र कठपुतली बन जायेंगे और कथा मिथ्या और कपोल कल्पित सी प्रतीत होने लगेगी। उसके अन्दर से स्वाभाविकता नष्ट हो जाएगी। कार्य-कारण-सम्बन्धों का स्वयँ संचालन न होकर वह पर-संचालित से प्रतीत होंगे और रचना में स्वाभाविक गति का एकदम अभाव आ जाएगा। इसी प्रकार के कुछ दोष जोशी जी की इस रचना में भी आ गए हैं। वाह्य-चरित्र की अपेक्षा आँतरिक विश्लेषण ही इस उपन्यास का प्रधान गुण अथवा लक्षण है। इसमें घटना-बाहुल्य न होकर चरित्र-चित्रण पर ही लेखक ने विशेष बल दिया है और चरित्र-चित्रण के लिए ही वह अपने प्रधान पात्र पारसनाथ को विविध परिस्थितियों में घुमाते फिरे हैं। इस उपन्यास में नायक की अवचेतन अवस्था का ही चित्रण है और उसी अवचेतन अवस्था के मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण के लिए संभवतः लेखक ने उपन्यास की रचना की है। यदि यही लेखक का उद्देश्य इस रचना के लिखने में रहा है तो वह अपने उद्देश्य में सफल है परन्तु यह उपन्यास औपन्यासिकता की कसौटी पर अस्वाभाविक रचना ही सिद्ध होगा, इसमें स्वाभाविकता लेशमात्र भी नहीं दिखलाई देती। पारसनाथ स्वयँ एक अस्वाभाविक पात्र है। जिन-जिन परिस्थितियों को लाकर इस उपन्यास में जुटाया गया है वह जीवन के एक बहुत जघन्य कोने से सम्बन्ध रखती हैं। आज का पाठक उपन्यास में चाहता है अपनी समस्याएँ, अपना चित्रण और उसका इसमें अभाव है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिए जोशी जी ने कल्पना का जो आश्रय इस उपन्यास में लिया

है—हिंसात्मक मार्ग पर चलकर शोषण का अन्त करना। 'प्रतिमा' नीलिमा की बहिन भी इस दल की मेम्बर बन जाती है। 'महीप' के मस्तिष्क पर अणुबम की विध्वंसात्मक शक्तियों का इसी समय इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसकी हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ डोल उठती हैं और उसका मन विरक्त सा होकर हिंसा के प्रति उदासीन हो जाता है। 'प्रतिमा' का आकर्षण 'महीप' में न होकर क्राँतिकारी प्रवृत्तियों में था और अब उसमें उनका लोप देखकर उसका उत्साह 'महीप' के प्रति समाप्त हो गया। वह महेन्द्र को छोड़कर चली जाती है। 'नीलिमा' भी उधर अपने पति के अत्याचारों से ऊब कर लखनऊ अपनी बहिन के पास चली आती है। 'महीप' उसके पास जाकर एक बार फिर अपना प्रेम-प्रस्ताव उसके सम्मुख रखता है परन्तु नीलिमा उसके प्रति सहृदय होते हुए भी उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। दूसरी तरफ़ 'प्रतिमा' और 'शारदा' किसानों को लक्ष्मीनारायण सिंह के खिलाफ़ भड़का कर प्रतिशोध की भावना से उनके घर में आग लगवा देते हैं। 'शारदा' को खोजता हुआ महीप घटनास्थल पर पहुँच जाता है। इसी समय ठाकुर साहेब अति तीव्र स्वर से चिल्लाते हैं और महीप उन्हें बचाने के लिए दौड़ता है। विद्रोही उस पर झपटते हैं और वह उनकी लाठियों का शिकार बन जाता है। 'प्रतिमा' इत्यादि सब भाग जाते हैं और महीप पकड़ा जाता है। महीप की मृत्यु जेल के हस्पताल में बड़ी दुर्दशा के साथ होती है। इस उपन्यास में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ से लेकर काँग्रेसी मन्त्री-मण्डलों की स्थापना तक के वातावरण का चित्राँकन किया गया है। लेखक ने भूमिका में दिया है कि इस बीच के समय में मध्यवर्ग पर राजनीति की इन क्रिया और प्रतिक्रियाओं का क्या प्रभाव पड़ा उसका दिग्दर्शन इस उपन्यास में मिलता है। पात्र जितने भी इस उपन्यास में प्रस्तुत किए हैं वह कल्पना-प्रधान अधिक हैं,

कर्तव्य-प्रधान कर्म। 'महीप' इस उपन्यास का नायक न जाने किस धातु का बना हुआ है कि उसके जीवन में स्थिरता नाम मात्र को भी नहीं है। वह इतना ढुलमुल-यकीन है कि एक क्षण में कुछ और एक क्षण में कुछ हो जाता है। वह 'नीलिमा' को भी प्रेम करता है और उसकी बहिनों को भी। ठाकुर साहेब के घर से भाग आने पर भी वह 'नीलिमा' के सम्मुख फिर प्रेम-प्रस्ताव रखता है। कामवासना से भूखा यह व्यक्ति प्रतीत होता है और उसकी क्राँति की भावना भी इसी भूख की प्रतिक्रिया मात्र है, वीर-भावना की प्रेरणा नहीं। अणुबम की प्रतिक्रिया से वह एकदम अहिंसावादी बन बैठता है। ठाकुर 'लक्ष्मणसिंह' का विरोधी होने पर भी महीनों उनके यहाँ रहता है। 'महीप' का जीवन एक विचित्र पहेली है, जिसे वह स्वयँ भी सुलझाने में असमर्थ है। उसके जीवन का समस्त क्रिया-कलाप उसके अवचेतन मन की प्रेरणा है, चेतन मन की प्रगति नहीं। यह सब प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। ठाकुर लक्ष्मणसिंह का चरित्र वास्तव में एक वास्तविक चरित्र है जिसमें इसका चित्रण बहुत सजीव है। शालीनता की पोशाक में किस प्रकार समाज कुछ धूर्तों को छिपाए हुए है इसका यह जीता-जागता उदाहरण है। नीलिमा के चेतन और अवचेतन मन के अन्तद्वन्दों का भी लेखक ने बहुत सफल चित्रण किया है। वह 'महीप' की ओर आकर्षित है, उसके रूप गुण पर रीझ भी चुकी है परन्तु उसके अवचेतन मन में एक भूख है और वह भूख है, धन की, ख्याति की, प्रतिष्ठा की और उसकी यही भूख उसे ठाकुर साहेब का शिकार बना देती है। 'प्रतिमा' के अन्दर एक प्रगति है और वह आदि से अंत तक एक ही प्रगति के साथ जीवन में रहती है। उसके अंदर व्यक्ति का मोह नहीं, सिद्धाँतों का मोह है और सैद्धाँतिक कमजोरी के कारण ही वह 'महीप' को अर्पित किया गया अपना प्यार लौटा लेती है।

लेखक ने इस उपन्यास में प्रत्येक पात्र को अपनी-अपनी विशेषता के साथ लिया है और मनोविश्लेषणात्मक ढंग से नाप-तौल कर चित्रित किया है। उपन्यास के मनोरंजन की दृष्टि से यह उपन्यास लेखक के गत उपन्यासों से पिछड़ गया है और इसमें लेखक की ओर से लम्बे-लम्बे वक्तव्य दिए गए हैं। यह वक्तव्य लेखक ने अपने सिद्धाँत-निरूपण के लिए दिए हैं जिनकी तुलना हम 'प्रमचन्द' जी की उपदेशात्मक प्रवृत्ति से कर सकते हैं। इनसे रचना का औपन्यासिक महत्व बहुत कुछ अंशों में कम हो गया है और उपन्यास की रोचकता को भी ठेस लगी है। पात्रों का मनोविश्लेषण उनके क्रिया कलापों पर आधारित न करके लम्बे-लम्बे व्याख्यानों द्वारा स्वयं लेखक ने करने का प्रयत्न किया है। लेखक की यह वर्णनात्मक शैली चरित्रों के विकास और औपन्यासिक तत्वों के अनुरंजनात्मक स्पष्टीकरण में वाधक सिद्ध हुई है। उपन्यास चरित्र-प्रधान है और समस्यामूलक है। कुछ वर्तमान समस्याओं को लेकर उनके स्पष्टीकरण का जो प्रयास लेखक ने किया है उसमें उसे सफलता मिली है।

इसके पश्चात् 'जोशी' जी का 'लज्जा' उपन्यास प्रकाशित हुआ। 'लज्जा' एक धनवान व्यापारी की लड़की है। वह डाक्टर 'कन्हैयालाल' और प्रोफेसर किशोरीलाल के सम्पर्क में आती है और वह दोनों भी 'लज्जा' की ओर आकर्षित होते हैं। 'लज्जा' का रुझान डाक्टर की ओर है और जब वह उसकी बीमारी में विशेष संलग्नता के साथ उसका इलाज करता है तो वह आकर्षण और भी दृढ़ रूप धारण कर लेता है। 'लज्जा' डाक्टर के साथ घूमने इत्यादि भी जाने लगती है परन्तु 'लज्जा' का भाई 'रज्जू' इसे पसंद नहीं करता। डाक्टर दूसरी ओर 'कमलिनी' पर भी डोरे डालता है और प्रेम करने लगता है। 'रज्जू' अपनी बहिन के व्यवहार से दुखित होकर अपना अन्त कर लेता है और उसकी

'डायरी' लज्जा को प्राप्त होती है। 'लज्जा' को यह जानकर कि उसके भाई ने उसके लिए प्राण दे दिए बहुत दुखित होती है और दान-दक्षिणा देकर प्रायश्चित्त करना चाहती है। इसी डायरी में 'रज्जू' और माधवी के प्रेम का भी रहस्य खुलता है। 'लज्जा' के काका की मृत्यु हो जाती है। डाक्टर का इस घर में आना जाना समाप्त हो जाता है। इस उपन्यास का मूल रहस्य 'रज्जू' की डायरी है और उसी के द्वारा लेखक ने मनोविश्लेषणात्मक चित्रण द्वारा पात्रों को उठाने का प्रयास किया है।

जोशी जी के उपन्यास प्रेम-प्रधान हैं, जिनमें स्त्री और पुरुष की चेतन और अवचेतन भावनाओं और उनसे उद्भूत समस्याओं का मनोविश्लेषणात्मक ढंग से चित्रण किया गया है। जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है वह कोई पहिले से निर्धारित करके आपने उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया हो ऐसी बात प्रतीत नहीं होती। उपन्यास विशेष रूप से चरित्र-प्रधान और समस्या मूलक हैं। कथा का निताँत अभाव उनमें नहीं है और उसकी योजना पर लेखक ने ध्यान भी दिया है परन्तु केवल उतना ही कि जिससे उपन्यास कुछ कथाओं का बंडल बन कर न रह जाये और उसमें पाठकों को एक क्रम-बद्धता का आभास मिले। प्रायः सभी उपन्यासों में एक ही समस्या है, एक ही प्रकार के पात्र हैं, एक ही प्रकार का कथानक है और एक ही प्रकार की समस्यायें लेखक ने प्रस्तुत की हैं। इन सभी कारणों से हमें जोशी जी के केवल एकाँगी सामाजिक जीवन के अध्ययन का अनुभव है। मानो समाज के किसी दूसरे पहलू को जोशी जी ने छूना ही नहीं जाना। फ्रायड के सिद्धाँतों का स्पष्टीकरण करना मात्र ही मानो उनकी उपन्यास-कला का एक ध्येय है, लक्ष्य है। एक एक पुरुष के साथ कई-कई स्त्रियों को जोशी जी ने इस प्रकार

जोशी जी के उपन्यासों का कथावस्तु

उलझा दिया है मानों 'स्त्री' एक ऐसी वस्तु है कि जो पुरुष को जितनी और जहाँ वह चाहे प्राप्त हो सकती हैं। 'संन्यासी' में एक पुरुष दो स्त्रियों से प्रेम करता है, 'पर्दे की रानी' में 'इन्द्रमोहन', 'शीला' और 'निरंजना' को प्रेम करता है, 'प्रेत और छाया' में तो नायक को जहाँ वह स्त्री चाहता है उसे मिल जाती है, 'निर्वासित' में 'नीलिमा' और उसकी बहिनों को महीप प्रेम करता है और इसी प्रकार 'लज्जा' में डाक्टर दो लड़कियों का प्रेमी है। समस्या सब उपन्यासों में एक ही है और उसी को लेकर इन सब उपन्यासों का निर्माण हुआ है।

जोशी जी के पात्र

जोशी जी के पात्र उनके सिद्धाँत-सिद्धि के साधन हैं, जिन्हें लेखक ने बहुत कुशलता पूर्वक घड़ा है। अव्यक्त को व्यक्त करने में और अवचेतन को प्रस्फुटित देखने में ही लेखक ने अपनी समस्त कला-कुशलता को लगा दिया है। पात्रों की अवचेतन अवस्था को मुखरित करने में जिन-जिन परिस्थितियों की आवश्यकता है उन्हें लेखक ने जुटाया है और जिस प्रकार के पात्रों द्वारा उनका संचालन हो सकता है उन पात्रों को चुना है। जोशी जी के पात्रों में मानव प्रवृत्तियों की अपेक्षा पशु प्रवृत्तियाँ अधिक उद्भूत हो उठती हैं और यह उनकी अवचेतना का ही प्रभाव है जो जीवन के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपों पर छाया हुआ है; फिर भी पात्रों में जो गुण अथवा अवगुण लेखक ने लाने का प्रयत्न किया है वह उसमें पूर्ण रूप से सफल हुआ है और जिस सिद्धाँत का निरूपण वह उनके द्वारा करने चला है उसका कुशलता पूर्वक निरूपण हुआ है। लेखक ने अपनी कल्पना-शक्ति से कुछ ऐसे पात्रों का निर्माण किया है जो देखने में बहुत ही विचित्र से लगते हैं और लेखक द्वारा यंत्र की भाँति संचालित होते हैं। कहीं-कहीं तो लेखक ने अव्यक्त भावना का

इतना प्रबल प्रभाव उनपर दिखलाया है कि वह मानवता को त्याग कर पशु बन गए हैं। 'इन्द्रमोहन' का 'शीला' को मार कर 'निरंजना' के पीछे दौड़ना इसका सजीव उदाहरण है। यहाँ 'इन्द्रमोहन' पर अवचेतनता का प्रभाव है चेतनता का नहीं और वह इसी अवचेतन अवस्था में गाड़ी से कूद कर प्राण भी दे देता है। इस प्रकार के पात्र दुनियाँ में हो ही नहीं सकते, यहाँ मैं यह कहने नहीं चला और ऐसे पात्र कल्पित ही हो सकते हैं, यह भी मैं कहने को उद्यत नहीं, परन्तु जोशी जी के किसी पात्र का जीवन इससे ऊंचे स्तर पर नहीं आ पाया यह जान कर मुझे अवश्य खेद होता है। एक दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह जोशी जी के पात्रों में यह है कि उनमें विकार यौन-सम्बन्ध स्थापित होते ही आ जाते हैं और उससे पूर्व वह विशुद्ध प्रेमी बने रहते हैं। यह बात कुछ युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होती। जोशी जी के पात्रों में यथार्थवादी तत्व की अपेक्षा वैचित्र्य की प्रधानता है। इसे हम लेखक की कला भी कह सकते हैं, मनोविज्ञान का पाँडित्य भी मान सकते हैं, सिद्धाँत निरूपण की सनक भी इसे कहा जा सकता है, गाम्भीर्य प्रदर्शन और उसमें वैचित्र्य की कल्पना के रूप में भी इसे देखा जा सकता है परन्तु मैं तो इसे उपन्यास-कला की हीनता ही कहूंगा, सबलता नहीं। यदि जोशी जी उपन्यास लिखने के लिए बैठते हैं तो उन्हें उपन्यास के साथ अन्याय करने का कोई अधिकार नहीं, उपन्यास के पात्रों का उपहास करने का कोई अधिकार नहीं।

जोशी जी के उपन्यासों की भाषा विशुद्ध संस्कृत-गर्भित है और उसमें पाठक को अपनी ओर आकर्षित करने का वह प्रबल वेग नहीं जो प्रेमचन्द जी या कौशिक जी की भाषा में मिलता है। कहीं कहीं पर आपने अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग

जोशी जी की भाषा और शैली

किया है और उससे उपन्यास की भाषा को बल भी मिला है। शैली के अंतर्गत कथावस्तु, पात्र और उनके चरित्र-चित्रण पर हम ऊपर विचार कर ही चुके हैं।

जोशी जी हिन्दी के उन उपन्यासकारों में हैं जिन पर विदेशी प्रभाव कुछ कम नहीं हुआ है। यों तो हिन्दी का समस्त उपन्यास-साहित्य ही विदेशी-प्रभाव की देन है और इसकी प्रत्येक धारा का जन्म विदेशी-उपन्यास की प्रगतियों के आधार पर हुआ है परन्तु कुछ ऐसी धाराएँ हैं जिनके मूल सिद्धाँतों में भी भारतीयता का लोप दिखलाई देने लगता है। 'जोशी' जी की मनोविश्लेषणात्मक-धारा उसी विचार-धारा का प्रति-रूप है जिसमें भारतीय संस्कृति का निताँत अभाव दिखलाई देता है। पिछले अध्यायों में हमने 'उग्र' और 'आचार्य चतुर्सेन शास्त्री' जी के साहित्य पर भी दृष्टि डाली है और देखा है कि उनके साहित्य में विदेशी साहित्य की भाँति अश्लीलता आ-गई है परन्तु वहाँ की अश्लीलता किन्हीं सिद्धाँतों का निरूपण नहीं है। वह तो कोरा चित्रण मात्र है जिसमें लेखकों ने घोर यथार्थवाद का रूप देने का प्रयत्न मात्र किया है। अश्लील से अश्लील चित्रण के पश्चात् भी उन दोनों लेखकों ने अंत में भारतीय सिद्धाँतों की रक्षा ही की है, परन्तु 'जोशी' जी का साहित्यक तो भारतीयता से कोराविद्रोह करता हुआ चलता है। लेखक को जितनी लड़कियाँ चाहियें उतनी उसने अपने उपन्यासों में घेर ली हैं और उन्हें जिस प्रकार चाहा है नचाया है। सिद्धाँतों का निरूपण इस प्रकार नहीं होता। यह लेखक की सफलता नहीं असफलता है। मेरे ऐसा लिखने से शायद प्रगति-शील विचारों को ठेस लगे परन्तु व्यक्ति अभी समाज का अंग मात्र ही है और जब तक व्यक्ति हैं तो उसका निर्वाह घर

बनाए बिना नहीं हो सकता, और जब 'घर' बन गया तो एक दिन 'ग्राम' की स्थापना अवश्य होगी, और जब 'ग्राम' बन गया तो वह ग्राम एक दिन 'शहर' अवश्य बनेगा और इसी प्रकार समाज, राष्ट्र और विश्व का संचालन होता रहेगा। आज के लेखक को चाहिए कि यदि वह समस्याओं का निरूपण करना चाहाता है तो विशेष व्यक्तियों को न लेकर सार्वजनिक व्यक्तियों को ले और उन्हीं की समस्याओं को चेतन और अव-चेतन परिस्थितियों में, व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं के आधार पर अपनी कला को आधारित करे; यही उसकी सफलता होगी।

(१२)

प्रताप नरायण श्रीवास्तव

श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव जी ने समाज के सभ्य अथवा ऐङ्गलो-हिन्दू-सभ्यता से प्रेरित कहलाने वाले समाज को अपने उपन्यास-साहित्य में छूने का प्रयत्न किया है। भारतीय समाज के उस वर्ग को जो वास्तव में भारतीय है, जन्म से, परन्तु जिसका रहन-सहन, आदर्श और विचार, शिक्षा और आचरण, वस्त्र, और खाना-पीना, उठना-बैठना और खेलना कूदना तथा बोलना-चालना सब कुछ विदेशी हो चुका है, लेकर श्रीवास्तव जी ने अपने साहित्य का विषय बनाया है। उस वर्ग के जीवन का रहस्योद्घाटन करके श्रीवास्तव जी ने साधारण पाठक में कौतूहल-प्रवृत्ति का संचार अवश्य किया है परन्तु अपनेपन की प्रतिष्ठा हम उसमें नहीं पाते। यह समाज मिस और मिसेज़ का समाज है, जिसमें डार्लिंग और डीयर का बोल-बाला है। रेस्टोरेन्टों और टेनिस के क्लबों में जिसका क्रीड़ा-विलास होता है, स्केटिंग रूम और बाल-रूम में जिनका मनोरंजन होता है और नाटक तथा सिनेमा जिनके साधारण खिलवाड़ के स्थान हैं।

श्रीवास्तव जी के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने अपने उपन्यासों में विदेशी प्रभाव से अनुरंजित वातावरण का चित्रण अवश्य किया है परन्तु भारतीयता के सिद्धान्तों के साँस्कृतिक-विकास की कहीं पर भी अवहेलना नहीं की। पात्रों पर अंतिम प्रभाव भारतीयता का ही होता है, विदेशीपन का नहीं। '**विदा**' में '**कुमुदनी**' '**निर्मल**' से खिंच कर '**वर्मा**' जी की ओर आकर्षित अवश्य होती है परन्तु यह सब उसके

आधुनिक विदेशी सभ्यता के प्रकाश में जन्म लेने वाली चेतना का फल है, संस्कार-जन्य उसका अवचेतन मन बराबर भारतीय-संस्कृति से प्रेरित होता हुआ 'वर्मा' जी की ओर से खिंचता जाता है और वह अपनी ग़लती को अनुभव करके 'निर्मल' की तरफ़ आकर्षित होने लगती है। 'कुमुदनी' के सम्मुख 'लज्जा' का चरित्र उपस्थित करके लेखक ने विदेशीपन पर भारतीयता की प्रतिष्ठा की है। इसी प्रकार सभी उपन्यासों में विदेशी प्रभाव से प्रेरित पात्रों का चित्रण करके उनमें भारतीयता का उदय करना लेखक का उद्देश्य रहा है। श्रीवास्तव जी ने समाज के जिस अंग को लेकर अपनी रचनाओं का विषय बनाया है, ऐसा प्रतीत होता है कि आपने उनके भीतर खूब पैंठ कर उसे देखा है।]

श्रीवास्तव जी के उपन्यास

श्रीवास्तव जी का प्रथम उल्लेखनीय उपन्यास 'विदा' है। विदा में लेखक ने तीन परिवारों की कहानी को लेकर कथावस्तु को सुगठित किया है। 'कुमुदनी' में अहङ्कार है और इसी अहङ्कार के कारण वह अबोधता में अपनी सास के प्रति उचित सत्कार प्रदर्शित नहीं कर सकती। उसके और उसके पति 'कुमुद' के मन में भी गाँठ पड़ जाती है और विषमता आ जाती है। दोनों एक दूसरे की ओर से खिंचे-खिंचे से प्रतीत होने लगते हैं। दोनों के इस खिचाव-काल में 'वर्मा', 'कुमुदनी' पर डोरे डालता है और दूसरी ओर 'निर्मला' का आकर्षण 'चपला' की ओर होने लगता है। 'कुमुदनी' का मन 'निर्मल' की ओर से खिन्न अवश्य है परन्तु वह पूर्ण रूप से स्वाभिमानिनी है। वह 'वर्मा' से बात अवश्य करती है परन्तु आचरण का दौर्बल्य उसे छू तक नहीं गया है। 'निर्मल' बराबर 'चपला' की ओर बहता जा रहा है। इसी समय 'कुमुदनी' अपनी भूल अनुभव करती है और 'लज्जा' के आचरण तथा उपदेशों का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। उसके हृदय का मोह धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है और वह सजग

होकर 'निर्मल' और 'चपला' के संचारित होते हुए प्रेम-प्रवाह के बीच में पत्थर की शिला बन कर खड़ी हो जाती है। वह अपने नारी-धन की रक्षा करने में सफल होती है और 'चपला' को विदा हो जाना होता है। 'वर्मा' की बीच ही में मृत्यु हो जाती है।

इस प्रकार इस उपन्यास की कथा-वस्तु संचारित होती है और पूर्ण सुगठन के साथ इसका निर्वाह इस उपन्यास में लेखक ने किया है। कथा का पूर्ण रूप से वैज्ञानिक संघटन है, जिसमें नाटकीय ढंग से कथा को एक प्रकार से अंकों में विभाजित सा कर दिया है। उपन्यास की प्रधान कथा 'निर्मल' और 'कुमुदनी' से सम्बन्ध रखती है। इनके अतिरिक्त 'माथुर परिवार' की कथा भी क्रम-बद्धता के साथ चलती है और 'केट-देवदत्त' की कथा प्रासंगिक रूप से उपन्यास में आई है। यह तीनों ही कहानियाँ उपन्यास में अभिन्न रूप से प्रवाहित होती हैं। समाज पर अङ्गरेजी प्रभाव का चित्राँकन करने के लिए लेखक ने उपन्यास में 'केट-देवदत्त' की कथा का समावेश किया है। 'विदा' उपन्यास में 'कुमुदनी' और 'निर्मल' के चरित्रों का विकास बहुत सुन्दर और साँस्कृतिक ढंग से हुआ है। लेखक ने भारतीयता और उसके आदर्शों की स्थापना पर विशेष बल दिया है और इस दृष्टि से उसका चित्रण यथार्थवादी होते हुए भी आदर्शोन्मुख हो गया है। चित्रण करते समय पात्रों में आदर्श स्थापना पर लेखक ने विशेष बल दिया है और यदि कहीं पर कोई पात्र आदर्श से बहकता हुआ प्रतीत होने लगता है तो लेखक उसका उपचार तुरन्त प्रस्तुत कर देता है। पात्रों के चरित्रों में जो कुछ भी विषमता आती है वह भारतीय आदर्शों की सीमा उल्लंघन करने पर ही आती है। लेखक ने 'मुरारी' में आदर्श-पति, 'लज्जा' में आदर्श-पत्नी, 'शाँता' में आदर्श माता इत्यादि के चरित्र स्थापित किए हैं। मानव के स्वभावों का सुन्दर चित्राँकन श्रीवास्तव जी ने इस उपन्यास में किया है।

कहीं-कहीं पर चित्रण में श्रीवास्तव जी भी पश्चिमी प्रभाव में बह गए हैं और वर्णन में चुम्बन और आलिंगन का खुलकर चित्रण कर गए हैं। उपन्यास में श्रीवास्तव जी ने मानव-चरित्र का चित्रण किया है, देवता-चरित्रों का नहीं। 'विदा' श्रीवास्तव जी की सब से सुन्दर रचना है और इसे लिखकर लेखक ने सामाजिक चित्रण के एक अछूते कोने को खोल कर पाठकों के सम्मुख रखा है। स्वदेश-प्रियता और भारतीय-सभ्यता के साँचे में ढला हुआ यह उपन्यास चरित्र-चित्रण की प्रधानता के साथ एक सुन्दर और सुगठित कथावस्तु को लेकर हिन्दी साहित्य में आया है। भारतीय और विदेशी सभ्यता के तुलनात्मक दृष्टिकोण लेखक ने उपन्यास में प्रस्तुत किए हैं और विदेशी पर स्वदेशी को हर प्रकार से प्रधानता दी गई है। स्वदेशी हीन से हीन वस्तु भी लेखक के लिए महान और प्रशंसनीय है। 'विदा' श्रीवास्तव जी का आदर्शोन्मुख उपन्यास है, जिसमें क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में विदेशी और स्वदेशी के प्रभाव दिए हैं और सभ्यता के विकास को लेकर लेखक चला है। वैज्ञानिक युग में सभ्यता विकसित होकर कहाँ से कहाँ पहुँच गई है और सभ्यता के इस विकास ने प्राचीनता को किस प्रकार पीछे छोड़ा और उसके फल स्वरूप उसमें आकर्षण का भी समावेश हुआ; परन्तु धीरे-धीरे जीवन की सरलता का लोप होने लगा और सरलता के साथ ही साथ सचाई का भी ह्रास हुआ। जीवन जटिल होता चला गया और जीवन में से जीवन-तत्वों का स्थान धीरे-धीरे यंत्र-तत्व लेने लगे। विदेशी सभ्यता के विकास में यंत्र-तत्वों का प्राधान्य हुआ और उसी का प्रभाव 'कुमुदनी' के ऊपर पड़ा। 'वर्मा' उस विकास का प्रतीक बनकर सामने आया परन्तु इसी बीच 'कुमुदनी' के जीवन का वास्तविक सत्य 'लज्जा' से चेतना पाकर मुखरित हो उठा और वह आज के वैज्ञानिक युग में नवीन मार्ग खोजने के

स्थान पर फिर 'कुमुद' में ही अपने जीवन की शाँति खोजने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार इस उपन्यास में नवीन और प्राचीन का एक ऐसा संघर्ष लेखक ने चित्रित किया है कि पाठक के सम्मुख समस्या सुलझे हुए रूप में बहुत सुन्दर ढंग से उपस्थित होती है।

विजय

'विदा' के पश्चात् आपकी दूसरी रचना जो उपन्यास क्षेत्र में आई वह 'विजय' है। 'विजय' समस्या-मूलक उपन्यास है। 'विधवा-विवाह' समस्या को लेकर लेखक ने सुन्दर रचना की है। 'विधवा-विवाह' की समस्या को लेकर बँगला साहित्य में कुछ सुन्दर उपन्यास लिखे गए। हिन्दी में यह समस्या अभी तक अछूती नहीं पड़ी हुई थी, परन्तु समाज के जिस वर्ग में इस समस्या को लेखक ने प्रस्तुत किया है वह लेखक की नवीनता अवश्य है। आज भारतीय समाज दो प्रबल दलों में विभक्त हो चुका है, एक वह जिसने व्यक्ति की स्वतंत्रता को सामाजिक बंधनों से मुक्त करके बलवान बना दिया है और दूसरा वह जो अभी तक भी किसी प्रकार पुरानी लकीरों की रीढ़ को पीट रहा है। सामाजिक प्रतिबंध बार-बार टूटकर जर्जरित हो उठते हैं परन्तु वह उन टूटे हुए धागों में फिर गाँठ लगा कर उन्हें जोड़ने का प्रयत्न करता है। धागे गल चुके हैं, कई स्थानों पर गाँठ लगाने योग्य भी नहीं रह गये हैं परन्तु अभी तक उनका अस्तित्व अवशेष है। हिन्दी के अंदर जो अभी तक अन्य उपन्यासों में विधवा-समस्या को लिया गया था वह वह समाज का दूसरा वर्ग था जिसके पात्र अभी निर्बल हैं और यदि कोई पात्र सबल होकर उनसे बाहर निकलने का प्रयत्न भी करता है तो वह कुछ धागों को तोड़ने में अवश्य समर्थ हो जाता है परन्तु अन्त में उसे हार कर या तो पथ-भ्रष्ट हो जाना होता है या अपना प्राणाँत कर लेना पड़ता

है। श्रीवास्तव जी ने विधवा समस्या को छूने के लिए समाज के उस वर्ग को नहीं अपनाया वरन् उसके प्रथम वर्ग को लेकर अपने कथानक की रचना की। 'विदा' का लेखक एक उपन्यास लिखने के लिए बैठा था और वह उसमें सफल रहा परन्तु 'विजय' लिखने से पूर्व लेखक के मस्तिष्क में एक समस्या थी और उसी समस्या के स्पष्टीकरण के लिए उसने विजय की रचना की है। इसलिए यह उपन्यास लेखक की ओर से निरुद्देश्य न होकर सोद्देश्य है। सोद्देश्य उपन्यास जहाँ एक ओर समस्या के स्पष्टीकरण के नाते ऊंचा उठ जाता है वहाँ कला के क्षेत्र में वह स्वतंत्रता उसे प्राप्त नहीं होती जो निरुद्देश्य उपन्यास को हो सकती है। यही कारण है कि श्रीवास्तव जी का यह उपन्यास 'विदा' से आगे नहीं निकल सका। लम्बे-लम्बे व्याख्यान बीच में ठेल कर लेखक ने इस उपन्यास को और भी अरोचक बना दिया है। कहानी का समस्त सौंदर्य व्यर्थ के कथनोप कथनों की भरमार में फँसकर नष्ट हो जाता है और उसकी मनोरंजकता समाप्त हो जाती है। हिन्दू विधवा को ईश्वर का तपरूप मान कर जो कल्पना आपने आज के वैज्ञानिक-युग में प्रस्तुत की है वह आपके घोर प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण की परिचायक है और उससे 'विधवा' की समस्या का कोई भी हल पाठक के सम्मुख प्रस्तुत नहीं होता। 'विधवा' को विधवा रहने का उपदेश देना 'विधवा' रहने से कितना कठिन काम है, सम्भवतः यह कभी श्रीवास्तव जी ने विचार नहीं किया। क्या सभी विधवायें संयम और नियम के साथ रह कर आजीवन वैधव्य की जलन को सहन करने में समर्थ हो सकती हैं? यह एक महान प्रश्न है जिसपर लेखक को प्रकाश डाल कर उसका सुझाव प्रस्तुत करना चाहिए था। प्राचीनतावादी भारतीय-दृष्टिकोण के अंतर्गत ही आपने इस समस्या को देखा है। विदेशी स्वतंत्रता

की अवहेलना करना बहुत सरल है और आदर्श का उपदेश देना उससे भी सुगम है परन्तु जीवन में वैधव्य को घटाना एक टेढ़ी खीर है और इस समस्या का महत्वपूर्ण तत्व भी यही है कि जिस पर प्रधानतया विचार की आवश्यकता है। जिस वर्ग को लेकर आप अपने इस उपन्यास में चले हैं उसमें विधवा-विवाह का सुन्दर हल प्रस्तुत कर सकते थे परन्तु लेखक पर तो प्राचीनता का इतना गहरा प्रभाव है कि वह उससे बाहर निकलकर स्वतंत्र-वातावरण में झाँकना ही उचित नहीं समझता।

सन् १६४१ ई० में श्रीवास्तव जी का तीसरा उपन्यास 'विकास' प्रकाश में आया। इस उपन्यास में दो कहानियाँ स्वतंत्र रूप से पृथक-पृथक बहती हैं, उनका परस्पर बहुत कम सम्बन्ध है और जो कुछ सम्बन्ध है भी वह भी कृत्रिक सा मालूम देता है। पुनर्जन्म की कथा को भी इस उपन्यास में व्यर्थ के लिए ठूंसने का लेखक ने प्रयत्न किया है क्योंकि उसका भी मूल कथा के साथ कोई सम्बन्ध स्थिर नहीं होता। यह चरित्र-प्रधान उपन्यास है जिसमें चरित्रों के विकास पर लेखक ने प्रर्याप्त ध्यान दिया है और घटनाओं का निर्देशन श्रीवास्तव जी ने स्वयँ किया है। अनेकों घटनाओं को लेखक ने संचालित करके पात्रों की जीवन घटनाओं के बीच चित्रित किया है। लम्बे-लम्बे स्वगत कथन श्रीवास्तव जी ने इस उपन्यास में भी कम रखने का प्रयत्न नहीं किया और उनकी भरमार से उपन्यास की रोचकता बिल्कुल नष्ट हो गई है। दृश्यों के वर्णन पर आपने विशेष बल दिया है और इस प्रकार आप शैली के क्षेत्र में बहुत पीछे के युग का अनुकरण करते हुए दिखलाई देते हैं। लेखक का इस उपन्याम में भी आदर्शवादी ही दृष्टिकोण रहा है और इस आदर्शवाद की ही प्रेरणा ने आपके पात्रों में कृत्रिमता ला दी है। उपन्यास का कथानक इस प्रकार है—'मनमोहन' पंडित फ़िज्जी द्वीप में जाकर बहुत धन

उपार्जन करते हैं परन्तु साम्यवादी विचारों के होने के कारण उस सब सम्पत्ति को मज़दूरों में बाँट देते हैं। फिर वह दक्षिणी अमरीका में जाकर अपना एक आश्रम स्थापित करते हैं। मनमोहन के पुत्र जो कि लखनऊ में रिसर्च कर रहे हैं पहिले एक बार अपने पिता के जहाज़ के कप्तान 'जेकब्स' की सुपुत्री अमीलिया का कौमार्य खंडित कर चुके हैं। यहाँ लखनऊ में भारतेन्दु (मनमोहन के सुपुत्र) प्रोफेसर 'नीलकंठ' की सुपुत्री 'आभा' के प्रेम बन्धन में बँध जाते हैं लेकिन 'अमीलिया' की स्मृति उन्हें बेचैन बनाये रखती है। 'अमीलिया' बहुत सहृदयता से काम लेती है और वह उन्हें अपने प्रेम-बन्धन से मुक्त करके स्वयँ अपने प्रेमी हुसेन भाई से विवाह कर लेती है। 'भारतेन्दु' का विवाह अब 'आभा' के साथ हो जाने में कोई बाधा नहीं रहती और वह सम्पूर्ण हो जाता है। 'माधवी' को मस्तिष्क में चोट लग जाने से पूर्व जन्म की बातें याद आ जाती हैं और वह पूर्व जन्म में 'नीलकंठ' की स्त्री ठहरती है जो कि इस जन्म की बाल विधवा है। उसके फिर उसी स्थान पर चोट आने से वह सब गत बातें विस्मरण हो जाती हैं। 'माधवी' को 'राधा' का पिता बहकाता है। 'राधा' के पिता ने अपनी पहिली गर्भवती स्त्री को घर से निकाल दिया था। 'राधा' के पिता की दूसरी स्त्री 'कौशल्या' के साथ पहिले ही उसकी सहेली के पति ने यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। कौशिल्या का बाद में 'मातादीन' के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया जिसके फल स्वरूप 'राधा' के पिता को ज़हर खिलाया गया। 'मातादीन' पहिले उसे अपनी बहिन घोषित करता है परन्तु बाद में उसे ले जाकर अनूपगढ़ के राजा सूरजबख्श के आश्रय में रख देता है। 'मातादीन' एक नम्बर का बदमाश है जो चमत्कार पुरुषत्व और नामर्दी की दवाई बनाता है। 'कौशिल्या' वहाँ जाकर अनूपकुमारी बन जाती है और राजा पर ऐसे डोरे डालती है कि वह अपने को भी भूल जाता है।

'मातादीन' दवाई के प्रभाव से राजा के बड़े पुत्र को नपुंसक बना देता है। इस लड़के का विवाह रामकृष्ण की पुत्री मालती से निश्चित होता है। 'मालती' 'आभा' की सहेली है। 'मालती' इस नपुंसक युवराज से सम्बन्ध विच्छेद करने की बात सोचती है परन्तु युवराज को पुरुषत्व की दवा मिल जाने से वह फिर सबल हो जाता है। दूसरी ओर 'मातादीन' को दीवान पद से हटा दिया जाता है और वह नाराज़ होकर 'राधा' के पिता से मिलकर 'अनूपकुमारी' का वारन्ट निकलवा देता है और वह वारन्ट लेकर उस दिन पहुँचता है जिस दिन राजा 'अनूपकुमारी' से विवाह करने जा रहे थे। 'अनूपकुमारी' 'मतादीन' के पेट में छुरा भोंक देती है और वह मर जाता है। 'अनूपकुमारी' जेल में पागल हो जाती है। राजा आँखें खुलने पर देखता है कि उसका परिवार फिर सुख और शाँति से परिपूर्ण है।

इस प्रकार यह उपन्यास विचित्र प्रकार की घटनाओं का माया-जाल है, जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन दोनों को ढूंढ़ने का लेखक ने ऐसा प्रयत्न किया है कि उपन्यास उपन्यास न रह कर चूं-चूं का मुरब्बा बन गया है। इसके पश्चात् आपके 'आशीर्वाद' और 'पाप की ओर' दो और भी उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। आपके अन्तिम उपन्यासों में 'विसर्जन' एक सुन्दर रचना प्रकाशित हुई है। इसमें राष्ट्रीयता की झलक है।

इस प्रकार संक्षेप में विचार करने पर हम श्रीवास्तव जी के उपन्यासों को किसी विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित होता हुआ नहीं पाते। पात्रों का आपने सृजन किया है, कथा का निर्माण किया है, समस्याओं को उठाया है और उन पर विचार भी किया है परन्तु आपका दृष्टिकोण कुछ ऐसा ढीला-ढाला और अप्रगतिवादी है कि आज का वैज्ञानिक युग उसे अपने साथ कहाँ तक कंधों पर घसीट कर ले जा सकेगा, इसमें हमें संदेह है। 'विदा'

को लिखते समय आपका लक्ष्य केवल उपन्यास लिखना भर था इसीलिए आप एक सुन्दर रचना उपन्यास-साहित्य को दे गए परन्तु उसके पश्चात् आपके मस्तिष्क में समस्याओं और विचारों का जो जमघट घिर कर आया कि आपकी 'अनुरंजकता' एकदम नष्ट हो गई, पात्रों की सजीवता खो गई और समस्याओं की जो रूप-रेखा आपने प्रस्तुत की वह इतनी दक़ियानूसी साबित हुई कि आज का विचारक उस दृष्टिकोण में बैठकर सोचने की कल्पना ही न कर सका।

श्रीवास्तव जी ने अपने पात्रों को अपने हाथों से निकल भागने का अवसर बहुत कम दिया है और यही कारण है कि आपने उनका चरित्र-चित्रण भी स्वकथनों द्वारा ही किया है। लेखक सम्भवत: अपने पाठकों को बिलकुल मूर्ख समझकर यह रचनायें लिख रहा है। ऐसा करके श्रीवास्तव जी ने अपने पात्रों और पाठकों दोनों के ही साथ अनर्थ किया है। कहीं-कहीं पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का स्वयँ अपने ऊपर से भी विश्वास उठ जाता है और वह अपने पिछले कथन को कमज़ोर समझकर अपनी ओर से उसे बल देने का प्रयत्न करने लगता है। जहाँ जहाँ लेखक अपने दार्शनिक सिद्धाँतों के निरुपण की ओर अग्रसर होता है वहाँ तो वह अपने पात्रों पर विश्वास कर ही नहीं पाता और स्वयँ वक्तव्य देने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उसे यह भी ध्यान भूल जाता है कि उसके वक्तव्य की छाया में उसके पात्र, उसकी कथा, उसकी घटनायें और उसके पाठक कहाँ जायेंगे, उनका क्या होगा ? फिर भी साधारणतया कथनोपकथन श्रीवास्तव जी के सुन्दर ही हैं और उनमें कुछ स्थलों को छोड़कर स्वभाविकता भी पर्याप्त मात्रा में आई है। हँसी मज़ाक वाले कथनोपकथन लेखक ने बहुत सुन्दर दिए हैं। आपकी भाषा में बहाव बहुत कम है और कथा की प्रगति में शिथिलता आजाती है।

लेखक की भाषा और उसके वर्णन में भाव-व्यंजना की कमी है। लेखक जो कुछ कहता है उसमें उसे प्रयास करना पड़ता है, पाठक जो कुछ समझता है उसमें उसे कष्ट होता है, आनन्द प्राप्त नहीं होता। लेखक के लम्बे-लम्बे वक्तव्यों पर हम ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। इस प्रकार श्रीवास्तव जी के उपन्यास चरित्र-चित्रण की कमी के साथ-साथ आधुनिकता से भी बहुत पिछड़े हुए हैं और यही कारण है कि लेखक इतने उपन्यास लिखने के पश्चात भी पाठकों का विशेष प्रिय नहीं बन सका।

(१३)

यशपाल

[भारतीत स्वतंत्रता-संग्राम के दो पृथक-पृथक रूप रहे हैं, एक क्राँतिकारी और दूसरा अहिंसात्मक। जिस समय काँग्रेस महात्मा गाँधी के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्यवाद से जूझ रही थी उसी समय कुछ भारतीय-स्वतन्त्रता के परवाने प्राणों को हथेली पर रखकर सशस्त्र क्राँति-द्वारा अँग्रेज़ी शासन को उलट देना चाहते थे। यह क्राँतिकारी दल कुछ विशेष सुसंगठित नहीं था। भारत के विस्तृत क्षेत्र में कभी कहीं और कभी कहीं पर कुछ चिंगारियाँ सी दहक उठती थीं। उपन्यासकार यश हिन्दी साहित्य को उसी क्राँतिकारी दल की देन है जो जीवन में रूसी साम्यवाद की रूप रेखा लेकर हिन्दी साहित्य में अवतरित हुआ। यशपाल के साहित्य पर रूसी विचार धारा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और स्वतन्त्रता की ज्वाला उसके लेखन में वर्तमान है।]

यशपाल के उपन्यास

सशस्त्र-क्राँति की ओर से अहिंसात्मक क्राँति की ओर उपन्यासकार यश का जीवन प्रवाहित तो हुआ परन्तु वह गाँधीवादी रूपरेखा के अन्तर्गत न बह सका। उस पर रूसी विचार-धारा का प्रभाव दिन पर दिन प्रबल होता गया। गत महायुद्ध से पूर्व भी भारत में रूसी गुण गाने वाले वर्तमान थे परन्तु इस युद्ध में रूस की सफलता हो जाने ने तो साम्यवाद की विचार-धारा को विश्व-व्यापक रूप प्रदान कर दिया। गत महायुद्ध के

समय में भारत परतन्त्र था और भारतीय स्वाधीनता के नेता स्वतन्त्रता संग्राम में अंग्रेज़ों से लड़ते हुए कारावासों की यातनाएँ भुगत रहे थे और उसी समय भारतीय कॉम्यूनिस्ट और एम० एन० राय की पार्टी ने उस युद्ध को जन-युद्ध घोषित किया; परन्तु यह घोषणा बड़े-बड़े शहरों के रेस्टोरेन्टों और काफ़ी हाउसों से बाहर न निकल सकी। भारतीय जनता में उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति महान् रोष था, इसलिए वह इस युद्ध को जन-युद्ध मानने को सहमत न हुई। परन्तु फिर भी भारत में एक प्रगतिवादी कहलाने वाले दल का इस बीच में निर्माण हुआ और इस दल दल के सदस्यों ने व्यावहारिक जीवन में पूंजीपतियों के भी कान काट कर अपने को प्रगतिशील प्रोलितेरियत-युग का निर्माता माना।

कॉमरेड यशपाल का प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने स्वयँ क्राँतिकारी सशस्त्र आँदोलन के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया है। यह

दादा कामरेड

उपन्यास राजनीतिक-पीठिका पर अवलम्बित है और भारतीय-राजकीय-व्यवस्था का सुन्दर चित्रण इसमें मिलता है। यशपाल के उपन्यासों में राजनीति प्रधान रूप से आती है और इसका प्रधान कारण यही है कि उपन्यासकार का जीवन राजनीति का एक अङ्ग बन कर रह चुका है। लेखक ने भारतीय राजनीति के अन्दर पैठकर उसके प्रत्येक कोने को झाँका है। यशपाल के क्राँतिकारी पात्र श्री जैनेन्द्र जी के 'सुनीता' वाले क्राँतिकारी से सर्वथा भिन्न है। परन्तु यहाँ हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यशपाल ने भारतीय-राजनीति को एक कलाकार के नाते नहीं देखा। प्रेमचन्द जी ने भी भारतीय राजनीति के बिखरे हुए मोतियों को चुना है और रंगभूमि, कर्मभूमि तथा प्रेमाश्रम में उन्हें सँजोया है परन्तु यशपाल का सिद्धान्त एक

कलाकार का न होकर एक राजनीतिक-प्रचारक का रहा है, जिसने कला को अपने सिद्धान्त-निरूपण का साधन-मात्र बनाया है, साध्य नहीं। यशपाल की प्रखर विधायक-शक्ति ने उसकी लेखनी को बल दिया है और सिद्धान्त निरूपण करके भी उनका साहित्य हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक बड़ी देन है। मई सन् १६४१ में 'दादा कामरेड' का प्रकाशन हुआ। एक क्राँतिकारी दल है और उसके नेता को दादा कहते हैं। 'हरीश' जेल से भाग कर आता है। वह क्राँतिकारी है। वह सोचता है कि इस प्रकार की गिरोह बन्दी करना व्यर्थ है। वह अपने गत जीवन पर दृष्टि डालता है और सोचता है कि उसने जो अपने गत-जीवन को कुछ डकैतियों और राजनीतिक हत्याओं में लगाया, वह तो उसका लक्ष्य नहीं था। उसका लक्ष्य तो जनता को शोषण के उत्पीड़न से मुक्ति दिलाना था। इसके लिए हमें काँग्रेस की सुगठित संस्था के अन्दर घुसकर उसे क्राँतिकारी कार्यों के लिए तय्यार करना चाहिए। हरीश का यह मत परिवर्तन उसके दल वालों को असहनीय हो उठा। क्राँतिकारी दल में मत-परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं। क्राँतिकारी दल की गुप्त बैठक में हरीश को गोली मार देने का निर्णय होता है परन्तु हरीश को शैला द्वारा सूचना मिल जाती है और वह अपनी रक्षा कर लेता है।

'हरीश' के अन्दर क्राँति की ज्वाला भी है और हृदय में मानवता के सिद्धान्तों का निरूपण भी। वह लाँहौर में मज़दूर-दल का संगठन करता है। लेखक ने एक ओर राजनीतिक क्रान्ति के नेता 'हरीश' का यदि चित्रण किया है तो दूसरी ओर सामाजिक जीवन में ज्योति-स्वरूप हम 'शैला' को पाते है। शैला स्वतंत्र विचारों की लड़की है और वह हरीश को उसके कार्यक्रम में बहुत सहायता पहुँचाती है। हरीश और शैला को लेकर आधुनिक प्रगति के अन्तर्गत 'नर' और 'नारी' के प्रेम की भी एक रूपरेखा

उपन्यासकार ने प्रस्तुत की है। शैला कहती है, 'क्या मनुष्य के हृदय का स्नेह केवल एक ही व्यक्ति पर समाप्त हो जाना जरूरी है ?" 'यशोदा' को प्रस्तुत करके लेखक ने आधुनिक नारी की सामाजिक-व्यवस्था का चित्रण किया है। 'दादा कॉमरेड' यशपाल जी की मनोरंजक, प्रभावपूर्ण तथा आकर्षक चित्रण वाली की सजीव रचना है। हिन्दी में राजनीति के क्षेत्र का अपनी विचार-धारा को लेकर आने वाला यह पहिला उपन्यास है। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी उपन्यास में वह निखार नहीं आ पाया जो कि उस समय सम्भव होता जब कि उपन्यासकार तटस्थ होकर समस्याओं का निरीक्षण करता और एक कलाकार के नाते पाठकों के सामने उन्हें प्रस्तुत करता। लेखक की राजनीतिक-समस्याओं के स्पष्टीकरण की सनक ने कहीं-कहीं पर ऐसा लगता है कि मानो उसकी कलम को जकड़ लिया है। उपन्यास के प्रायः सभी पात्र अपने में कुछ न कुछ विशेषता को लेकर चलते हैं परन्तु उनका विकास समस्याओं में उलझ जाने के कारण उतना व्यापक रूप से नहीं हो पाया है कि जितना होना चाहिए था। पात्र निखरते-निखरते रह गए हैं और उनका चरित्र-निर्माण होते-होते रुक गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक लिखते-लिखते बहक जाता है और अपने पात्रों को निराश्रित सा छोड़ कर इधर-उधर दौड़ने लगता है। फिर भी यह उपन्यास हिन्दी में एक नवीनता लेकर आया और इसने हिन्दी-उपन्यास साहित्य को एक नवीन दिशा सुझाई।

'देश द्रोही'

सन् १९४३ में यशपाल का 'देश द्रोही' दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास द्वारा लेखक ने अपनी विचार-धारा को स्पष्ट रूप से खोल कर सामने रख दिया। यह उपन्यास गाँधीवाद की कटु आलोचना और रूसी साम्यवाद के निरूपण के रूप में

सामने आया। इस उपन्यास में कई प्रकार की जातियों से पात्र लेकर लेखक ने कथावस्तु का संकलन किया है। वज़ीरी, रूसी, अफ़गानी, भारतीय सभी जातियों के पात्र और उनके आस-पास की दुनियाँ का इसमें चित्रण है। इस उपन्यास का नायक 'भगवान दास खन्ना' है जो कि सीमाप्रांँत के एक फ़ौजी हस्पताल में डाक्टर-पद पर नियुक्त है। एक दिन वज़ीरिस्तान के छापा-मारों ने रात्रि में हस्पताल पर छापा मारा और अन्य सामान के साथ-साथ वह लोग डाक्टर खन्ना को भी उठा कर ले गए। वज़ीरियों के हाथों में डाक्टर खन्ना को जैसी यंत्रणा सहन करनी पड़ी उसका चित्रण लेखक ने बहुत सजीव और ब्यौरे वार किया है। वज़ीरियों के रीति-रिवाजों, उनके सामाजिक व्यवहारों, दैनिक-जीवन, आर्थिक-व्यवस्था तथा रहन-सहन का लेखक ने बहुत सुन्दर चित्रण किया है। लूट में साथ लाए हुए व्यक्तियों के साथ जो पाशविक व्यवहार वह लोग करते हैं उसका बहुत व्यापक चित्रण लेखक ने किया है। चार हज़ार रुपया प्राप्त करके उन्हें वज़ीरी मुक्त कर देंगे ऐसा निश्चय हुआ और डाक्टर खन्ना ने एक चिट्ठी अपने रिश्तेदारों के नाम लिख दी। इस चिट्ठी को लेकर वज़ीरियों का एक आदमी दिल्ली गया। परन्तु वहाँ से कोई उत्तर न मिला। अन्त में वज़ीरियों ने निराश होकर ईद के दिन डाक्टर को क़लमा पढ़ा कर मुसलमान बना लिया। 'खन्ना' का अब परिवर्तिय नाम 'अन्सार' पड़ा और उसे गज़नी में लेजाकर एक पोस्तीन के व्यापारी अब्दुल्ला के यहाँ रख दिया गया।

अब्दुल्ला के यहाँ नौकरी करके डाक्टर खन्ना प्रारम्भ में तो कुछ दुखित रहा परन्तु कुछ दिन बाद ही वह उनके लिए स्वर्ग तुल्य हो गया। अब्दुल्ला के लड़के नासिर से खन्ना की खूब पटने लगी और उसकी सहृदयता ने उसे अपने वश में कर

लिया। इसी बीच में डाक्टर 'अन्सार' ने अब्दुल्ला का एक साँघर्तिक रोग में इतनी सहृदयता से इलाज किया कि वह अपनी लड़की का विवाह उसके साथ करने को उद्यत हो गया। डाक्टर से इस प्रस्ताव का स्वागत करते ही बना और उसने नर्गिस से विवाह कर लिया।

इसके पश्चात अन्सार का विचार हुआ कि वह सोवियत रूस की समी में जाए। अब्दुल्ला का लड़का नासिर भी उसके इस मत से सहमत था। गुप्तरूप से चरस के व्यापारियों की सहायता लेकर अन्सार और नासिर स्तालिनाबाद नामक कस्बे में जा पहुँचे। वहाँ से इन्हें समरकंद ले जाया गया और डाक्टर अन्सार के सुपुर्द चिकित्सा-कार्य हुआ।

हस्पताल में मिस्टर अन्सार डाक्टर जिमीनोफ़, जोकि खोज-विभाग के अध्यक्ष थे, के विशेष सम्पर्क में आए परन्तु इनका जीवन पूर्णरूप से डाक्टरी खोज करने के यंत्रों के वीच एक यंत्र बन चुका था। इनके अतिरिक्त मि० खन्ना कॉमरेड 'खातून' के सम्पर्क में आए। ख़ातून का जीवन रूसी राजनीति का एक अंग रह चुका था और ज़ारशाही में उसने काफ़ी यंत्रणा भोगी थी। दैनिक व्यवहार के जीवन में वह शिशुशाला की अध्यक्ष थीं और दाइयों की शिक्षा की देख-भाल उन्हीं में नियंत्रण में होती थी; परन्तु उनका वास्तविक जीवन था संसार व्यापी पूंजीवादी व्यवस्था के विरूद्ध निरंतर युद्ध की शृखला बनाना। यहीं पर डाक्टर खन्ना 'गुल्शाँ' के सम्पर्क में आते हैं और उनका आकर्षण भी उसके प्रति कम नहीं होता। गुल्शाँ डाक्टर को प्रेम करती थी परन्तु डाक्टर के अन्दर साहस नहीं हुआ कि वह उसके प्रेम का उत्तर दे सके। वह समरकंद से भाग खड़ा हुआ। यहाँ से भागकर मास्को पहुँचे तो वहीं पर उनकी भेंट फिर नासिर से हो गई। कुछ दिन मास्को रह कर काले समुद्र के मार्ग से मि० खन्ना और नासिर भारत लौट आए।

डाक्टर खन्ना तो एक ओर इस प्रकार जीवन-यात्रा पर लगे हुए थे और दूसरी ओर उनकी पत्नी 'राज' उनके विरह में व्याकुल हो रही थी। जब उसे डाक्टर खन्ना की मृत्यु का समाचार मिला तो उसने बहुत सी अफ़ीम खाली, परन्तु मर न सकी। डाक्टर खन्ना के मित्र शिवनाथ ने इस आपत्ति काल में 'राज' के साथ बहुत ही संवेदना पूर्ण व्यवहार किया। डाक्टर खन्ना और शिवनाथ दोनों एक क्राँतिकारी दल के नेता रह चुके थे और दोनों ने ही राष्ट्रीय-उत्थान में पूरा-पूरा सहयोग दिया था। शिवनाथ बम बनाने में पकड़ा गया था और जेल से छूटने पर वह समाजवादी पार्टी का नेता बन गया। बद्री बाबू गाँधीवादी अहिंसा के पथ पर चलने वाले व्यक्ति थे। शिवनाथ जी ने जेल से छूटते ही मज़दूरों का संगठन किया और बद्री बाबू को ललकारा। 'राज' बद्रीबाबू के आश्रम में रहकर उनके कार्य में हाथ बँटा रही थी। 'राज' और बद्रीबाबू एक दिन इतने निकट आ गए कि दोनों का अदालत में विवाह हो गया। विवाह के तीसरे ही दिन बद्री बाबू गिरफ्तार हो गए। राज बद्री बाबू के रानीखेत के आश्रम में रह रही थी और वहीं पर उसके एक पुत्र ने जन्म लिया। देश में सन् १९४२ का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। शिवनाथ फ़रार हो गया और मज़दूरों में उसने क्राँति की वह ज्वाला सुलगानी प्रारम्भ कर दी कि जिससे देश में एक उथल-पुथल पैदा हो जाये।

इसी बीच डाक्टर खन्ना डाक्टर वर्मा के नाम से कुछ दिन बम्बई में कार्य करने के पश्चात कानपुर पहुँचे और अपनी एक दूकान खोलकर बैठ गए। यह कॉम्यूनिस्ट पार्टी का कार्य करने लगे। रूस पर जर्मनी ने आक्रमण किया और भारतीय कॉम्यूनिस्टों ने इस युद्ध को लोक-युद्ध की घोषणा कर दी। अँग्रेज़ी सरकार ने कॉम्युनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबन्ध उठा लिया। शिव-

नाथ की बहिन यमुना द्वारा डाक्टर खन्ना की भेंट शिवनाथ से हुई। सैद्धाँतिक मतभेद होने पर भी दोनों अभिन्न स्नेह-भाव से मिले। मिस्टर खन्ना का इसी बीच चन्दा के यहाँ भी आना-जाना हो गया और चन्दा उनकी ओर आकर्षित होने लगी। शिवनाथ युद्ध विरुद्ध कार्य-वाहियाँ कर रहा था और मिलों के मजदूरों को क्राँति की ओर अग्रसर कर रहा था। मिस्टर खन्ना अपनी पार्टी के साथ युद्ध-प्रयत्नों में सहयोग दे रहे थे। इसी बीच शिवनाथ के भड़काने से एक मिल में मज़दूरों ने आग लगा दी। खन्ना और उनके दलवाले मिल मज़दूरों को समझाने के लिए वहाँ पहुँचे। फलस्वरूप दोनों दलों में भारी मार पीट हुई और डाक्टर खन्ना बुरी तरह घायल हो गए। इसी समय चन्दा के पास शिवनाथ का तार आया जिसमें सहानुभूति प्रकट की गई थी और डाक्टर ने लिखा था कि खन्ना को चाहिए कि वह २४ गण्टे में कानपुर छोड़ दें अन्यथा उनकी पूरी सूचना सरकार के पास भेज दी जाएगी। चोट की सूचना पाकर चन्दा मिस्टर खन्ना के घर गई। चन्दा से खन्ना ने अनुरोध किया कि वह उसके साथ 'राज' के पास रानीखेत चले। वहाँ जाकर जब चन्दा ने 'राज' को सब सूचना दी तो राज मूर्छित हो गई। दूसरे दिन चन्दा और मिस्टर खन्ना वहाँ से लौटे और उन्हीं के मार्ग में चन्दा के पति मिस्टर राजाराम मिल गए। राजाराम ने चन्दा की मारपीट प्रारम्भ कर दी। जब मिस्टर खन्ना ने पास जाकर कुछ कहने का प्रयत्न किया तो कड़क कर राजाराम बोला, "देशद्रोही बदमाश! दूसरों के घर में आग लगा कर तमाशा देखने वाले बेशरम!" और डाक्टर खन्ना सन्न रह गए। राजाराम के कुलियों द्वारा भूखे, प्यासे, जरजरित मिस्टर खन्ना को पेड़ के नीचे पत्थर पर लिटा दिया गया।

देश द्रोही उपन्यास में कॉमरेड यशपाल ने डाक्टर खन्ना को अपने सिद्धाँतों के निरूपण और उनकी सार्थकता प्रकट करने के लिए दुनियाँ भर में व्यर्थ के लिए नचाया है। यह एक असहाय जीवन की कहानी है जो आदि से अंत तक परिस्थितियों के हाथों में खेला है, एक भी परिस्थिति का निर्माता नहीं बन सका। इसलिए हम इस पात्र को सजीव पात्र न कह कर निर्जीव-पात्र ही कहेंगे। हो सकता है कि इस उपन्यास को लिखकर कॉमरेड यशपाल ने एक कॉम्यूनिस्ट कार्यकर्त्ता की देश सेवा दिखला कर उसे देश-द्रोही कहने वालों का उपहास किया हो परन्तु इसके द्वारा कहीं पर भी लेखक ऐसा वातावरण उपस्थित नहीं कर पाया कि जहाँ पाठक की सहानुभूति उपन्यास की समस्या या समस्या के कारण पैदा हुई नायक की परिस्थिति से हो पाई हो। उपन्यास का नायक मिस्टर खन्ना विद्यार्थी काल में क्राँतिकारी रहा, शिवनाथ के जेल जाने पर फौज में भर्ती हो गया, फिर वज़ीरियों द्वारा पकड़ा जाकर वजीरिस्तान होता हुआ रूस की सीमा में घुस कर मास्को तक पहुँच गया और फिर अन्त में भारत की सीमा के अन्दर आ घुसा। उसके जीवन के इस समस्त कार्यक्रम में देश सेवा का कहीं लेश मात्र भी आभास नहीं मिलता। अब यदि ऐसी परिस्थिति में उसे राजाराम ने देश द्रोही कह भी दिया तो कोई विशेष अनुचित बात नहीं कही। 'इब्बा' और 'नूरन' के प्रेम-निमंत्रणों का वह स्वागत न कर सका। किस लिए क्योंकि उसमें सामर्थ्य नहीं थी, उसमें पौरुष की कमी थी; ग़ज़नी में 'राज' की स्मृति हृदय में रखते हुए भी उसने 'नर्गिस' से विवाह किया उसके रूप पर आकर्षित होकर। खन्ना ने फिर रूस के लिए भारत को और 'गुल्शाँ' के लिए 'राज' तथा 'नर्गिस' को भुला दिया। अन्त में भारत में आकर भी उसने जो मार्ग अपने लिए चुना वह उन्नति और प्रगति का न बन सका

और अन्त में इस प्रकार असहायता और दीनता में उसे अपने प्राणों को त्यागना पड़ा। डाक्टर खन्ना के चरित्र में पलायन-वाद की प्रखता है और सिद्धाँतों की दृढ़ता भी चरित्र की पूरी गहराइयों तक नहीं पहुंचने पाती। खन्ना ने अपने सुख के लिए चन्द्रा का जीवन नर्क बना दिया। यह उसके चरित्र की घोर दुर्बलता है जिसमें न तो स्थायित्व ही है और न पौरुषेय-प्रवृत्ति ही। एक प्रौढा की गोद में सिर रख कर लेट जाने में उसे जीवन की शाँति का अनुभव होता है।

इस उपन्यास में लेखक ने नायक को कठिन से कठिन परिस्थितियों में रखकर नचाया है और पाठक के मन में हर प्रकार से उसके प्रति द्रवित होने के साधान उपलब्ध किए हैं परन्तु वह यह सब करने में पूर्णरूप से असफल रहा है। सब से बड़ी बात जो इस दिशा में कहने और समझने की है वह यह है कि लेखक पात्र में जान नहीं डाल सका है और पात्र को लेखक के संकेत पर कला बाज़ियाँ करनी पड़ी है। यही है इस नायक का दुर्भाग्य भारत में काँग्रेस कार्यक्रम से ऊपर कॉम्यूनिस्ट कार्यक्रम को ठहराने के उद्देश्य से लेखक ने इस उपन्यास की रचना की है, जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। परन्तु कॉम्यूनिस्ट-कार्यक्रम के नायक स्वरूप जिन पात्रों को लेखक ने प्रस्तुत किया है वह दुर्बल हैं, निराधार हैं और लक्ष्य विहीन हैं। उनका व्यक्तित्व इतना उथला है कि पाठक पर उनके गाम्भीर्य की छापलगनी निताँत असम्भव है। काँग्रेसी नेताओं के व्यंग्य-चित्र उपस्थित करने में लेखक को अवश्य सफलता मिली है और कहीं-कहीं पर संवादों में लेखक ने जो कटाक्ष किए हैं वह बहुत ही मार्मिक हैं। बद्रीबाबू को तो मानो लेखक ने आदि से अन्त तक पाठकों के हास्य-वृत्ति को संतुष्ट करने के लिए ही प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में काँग्रेस के प्रतिनिधि बद्री बाबू को लेखक ने पूंजीपतियों का

अव्यवहारिक रूप से दास कहकर प्रस्तुत किया है। बद्री बाबू सादा खाते, सादा पहिनते और व्यवहार में भी बहुत सादे हैं परन्तु सेठ भाटिया जी द्वारा दी गई कार को वह इस लिए ग्रहण कर लेते हैं कि इससे उनका समय बचता है और उनका समय जनता का समय है। यह लेखक की व्यंग्योक्ति है। लेखक जनमत पैदा करने के साधनों को पूंजीपतियों के हाथ में मान कर काँग्रेस को उनकी पराधीन संस्था मानता है और उसका मत है कि काँग्रेस के अन्दर घुस कर भी उसे वैधानिक रूप से समाजवादी संस्था नहीं बनाया जा सकता। लेखक को काँग्रेसियों का 'हाय देश' का नारा उपहास जनक प्रतीत होता है जब कि कांग्रेसी मजदूरों के 'हाय रोटी' वाले नारे को उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक बतलाते हैं। उसे उनके स्वदेश प्रेम पर संदेह होता है और उनके त्याग में उसे उनके स्वार्थ की बू आती है।

इस प्रकार हमने देखा कि 'देशद्रोही' उपन्यास में कलात्मकता की अपेक्षा प्रचारात्मकता कहीं अधिक है। उपन्यास में न तो घटनाओं का कोई क्रम ही है और न उनका मुक्त-सुचारु-संचालन ही। पात्र भी कुछ उखड़े-उखड़े से लेखक के संकेतों पर देश विदेशों की ख़ाक छानते फिरे हैं और उनके जीवन में किसी प्रकार की भी कोई व्यवस्था स्थापित करने में लेखक पूर्ण रूप से असमर्थ रहा है। यहाँ यदि यह भी कह दिया जाए कि यह उपन्यास अव्यवस्थित कहानी और पात्रों के क्रिया-कलापों का वह संकलन है जिसमें लेखक ने उपन्यास की प्रत्येक आवश्यकता को अपने सिद्धाँत-निरूपण पर न्यौछावर कर दिया है तो कुछ अनुचित न होगा। परन्तु फिर भी हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यह एक इतना नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है कि पाठक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उपन्यास में वातावरण उपस्थित किया गया है, लेखक द्वारा पात्रों की परिस्थितियाँ वातावरण

नहीं बनतीं। उपन्यास में स्वाभाविकता की अपेक्षा बनावट का प्राधान्य है और यही कारण है कि उपन्यास के पात्रों में वह बल नहीं आ सका जो आना चाहिए था। समस्त उपन्यास नौ प्रकरणों में विभक्त है। प्रकरणों का नामकरण कलात्मक हैं। इस उपन्यास में योरोपियन ढंग पर यशपाल ने व्यंग्य का प्रयोग किया है परन्तु कई स्थानों पर चित्रण में कटुता प्रखर हो उठी है और ऐसा होने से रचना कलात्मकता की दृष्टि से नीचे स्तर पर उतर आई है। लेखक जीवन की समस्याओं को, राष्ट्र की परिस्थितियों को और समाज के व्यवहारों को अपने दृष्टिकोण से आँकता है और यदि कहीं पर किसी विचार-धारा से उसके विचारों का मेल नहीं खाता है तो वह व्यंग्य द्वारा उस पर हल्की सी चोट इसलिए करता है कि जिससे वह बँधी हुई गाँठ खुल जाए। परन्तु ऐसा करने में उनके लिए आवश्यकता से आगे बढ़ जाना ठीक नहीं। कहीं-कहीं पर लेखक व्यंग्य चित्र उपस्थित करता-करता स्वयँ उपहासस्पद हो उठा है और उसके चित्र निखर कर सामने आने की अपेक्षा लेखक की संकुचित मनोवृत्तियों के परिचायक बन गए हैं। हिन्दी उपन्यासों में फिर भी हम यही कहेंगे कि यशपाल के जैसे सुन्दर व्यंग्य-चित्र अन्य कम लेखक अभी तक प्रस्तुत कर पाए हैं।

यशपाल का यह उपन्यास देश की राजनीतिक परिस्थिति का अपने दृष्टिकोण से लिखा हुआ वह कलात्मक इतिहास है कि जिस में गाँधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद और अन्य छोटे-मोटे वादों की रूप-रेखा का चित्राँकन मिलता है। देश-काल का इतिहास प्रस्तुत करने की सनक में लेखक ने उपन्यास की आवश्यकताओं को कुचल दिया है। उपन्यास में जीवन के प्रति रूसियों, भारतियों और वज़ीरियों के दृष्टिकोण का चित्रण भी लेखक ने खूब किया है।

इस उपन्यास के पढ़ने से कॉमरेड यशपाल के व्यापक ज्ञान और उच्च कोटि की प्रतिभा का आभास मिलता है। लेखक ने केवल पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर वज़ीरिस्तान और रूस के रीति-रिवाज़ों और वहाँ के रहन-सहन का सजीव चित्रण किया है। लेखक जब राजनीति के क्षेत्र को छोड़ कर अपनी लेखनी को मानव और मानव की भावनाओं के चित्रण में प्रयोग करता है तो उपन्यास का वह स्थल एकदम ऊपर उभर जाता है। कई प्रकार के स्वभाव वाली स्त्रियों का इसमें चित्रण है और 'राज' के चरित्र-चित्रण में लेखक ने बहुत ही सहानुभूति से काम लिया है। 'राज' के जीवन में आने वाला प्रत्येक परि-वर्तन मनोवैज्ञानिक है, यों ही अकस्मात नहीं हो गया है। इस प्रकार 'देश द्रोही' अपने ढंग का हिन्दी में अकेला उपन्यास है और एक सुन्दर रचना है।

सन् १९४५ में कॉमरेड यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने बौद्ध-कालीन परिस्थिति का चित्राँकन किया है। 'दिव्या' इस उपन्यास की नायिका है। इस उपन्यास में व्यक्ति की कुछ सब कालों में सत्य रहने वाली परिस्थितियों और समस्याओं का बहुत सहानुभूति पूर्वक कला-त्मक ढंग से चित्रण किया गया है। उपन्यास केवल मनोरंजन का साधन मात्र नहीं वरन् लेखक की सोद्देश्य रचना है। श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुलीन 'दिव्या' का प्रेम एक दास से होजाता है। मानवीय प्रेम जातीय-बन्धनों को चुनौती देता है, सामाजिक मान्यताएँ उसके मार्ग में रुकावट बनकर खड़ी हो जाती हैं। दिव्या का गर्भ उसकी लज्जा का कारण बन जाता है। 'दिव्या' की ऐसी हीन परिस्थिति में राज्य और संघ दोनों उसे आश्रय देने में असमर्थ हैं। परन्तु जब वह नर्तकी बनकर समाज के रंगमंच पर झूम-छनन के साथ

दिव्या

अवतरित होती है तो बड़े-बड़े समाज के ठेकेदार सामंत उसके सामीप्य-लाभ के लिए लालायित हो उठते हैं । आचार्य रुद्रधीर और अनीश्वरवादी ने भी 'दिव्या' के सम्मुख अपना मस्तक नवा कर प्रणाम-निवेदन किया । नारी के रूप पर मानव सर्वदा चलायमान होता रहा है, होता रहेगा, यह अटल सत्य है । देश, काल और व्यक्ति का भेद इस अटल सत्य को असत्य नहीं बना सकता । इसी कठोर सत्य का प्रतिपादन हमें कॉमरेड यशपाल के इस उपन्यास में मिलता है ।

इस उपन्यास में पूर्ण रूप से ऐतिहासिक वातावरण और परिस्थितियाँ प्रस्तुत करने में लेखक सफल रहा है । उपन्यास के वर्णन, संवाद और चित्रणों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सजीव हो उठती है । इस उपन्यास की कहानी भी बहुत स्वाभाविक तथा रोचक है और लेखक ने उसमें पूर्णरूप से कलात्मक चित्रण-द्वारा अपने विचारों का स्पष्टी-करण किया है । इस उपन्यास के संवाद बहुत रोचक तथा सुन्दर हैं और वह सब पात्रों के अनुकूल हैं । पुस्तक का आदि, और अंत दोनों ही प्रभावात्मक हैं ।

सामाजिक विषमता की समस्या को लेकर सन् १६४६ में यशपाल का 'मनुष्य के रूप' उपन्यास प्रकाशित हुआ । 'सोमा' जब

मनुष्य के रूप

अपनी सुसराल में तंग आ जाती है तो उसे अपने बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाले के रूप में ड्राइवर धनसिंह दिखलाई देता है और वह उसके साथ भाग खड़ी होती है ।...मनोरमा के भाई की रखैल बन कर वह घर की स्वामिनी सी बन जाती है परन्तु फिर यहाँ से भी निकाल दी जाती है ।......बरकत ड्राइवर के साथ बम्बई पहुँचकर सोमा फ़िल्म अभिनेत्री बन जाती है । वहाँ उसके रूप की ख्याति पर अनेकों परवाने मँडराने लगते हैं । मनोरमा अपने कॉम्यूनिस्ट प्रेमी 'भूषण' की ओर से खिंच कर एक फ़िल्मी ऐजेन्ट

से फँस जाती है परन्तु अन्त में उससे निराश होकर वह फिर पार्टी के काम पर जुट जाती है और इस प्रकार वह फिर भूषण के निकट आ जाती है। धनसिंह ड्राइवर भारतीय सेना में भर्ती हो गया था और वहाँ से वह आज़ाद-हिन्द सेना में चला गया। बन्दी बनकर बाँकीपुर जेल से जब वह मुक्त हुआ तो बम्बई में 'सोमा' की खोज के लिए पहुँचा। वहाँ धनसिंह भूषण को साथ ले 'सोमा' की कोठी पर गया तो सोमा उन्हें देख कर चकित रह गई और इसी समय बरकत ने इन पर करौली से आक्रमण किया। भूषण चोट खाकर हस्पताल ले जाया गया और वहाँ उसकी मृत्यु हो गई। धनसिंह भी यहाँ पर अपने जीवन में पहिले की गई हत्याओं को स्वीकार कर लेता है। इस उपन्यास में लेखक ने समाज का चित्रण पूर्ण रूप से व्यंग्यात्मक किया है। जीवन की आवश्यकताएँ जीवन को कहाँ तक धकेल कर ले जा सकती हैं इसका सोमा के रूप में लेखक ने बहुत ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। उसकी लज्जा और स्नेहशीलता शारीरिक-सुख की भट्टी में जलकर स्वाहा हो जाती है। "पहाड़ी क्षेत्रों में स्त्रियों की दुर्दशा, भारतीय पुलिस की धाँधली, कामुक पुरुषों की असहाय स्त्रियों के प्रति कुचेष्टाएँ, पूँजी-पतियों की अनैतिकता, सन् ४२ के आँदोलन में पुलिस के अत्याचारों, फ़िल्मी-जीवन की बुराइयों, गत युद्ध में भारतीय सैनिकों के जीवन एवँ आज़ाद-हिन्द फ़ौज की अवस्था, कॉम्यूनिस्टों की कार्य-प्रणाली एवँ उनके सिद्धाँतों आदि का इस उपन्यास में बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। एक प्रकार से यह उपन्यास वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रच्छन्न विद्रोह है। सत्य पर आवरण डाल कर मनुष्यों को पशुओं के स्तर पर लाने वाली पूँजीवादी सभ्यता के जर्जर अंगों के घिनौने स्वरूप का बड़ा ही यथा-तथ्य उद्घाटन किया गया है।" हिन्दी-उपन्यास में प्रताप नारायण श्रीवास्तव ने लिखा है।

इस उपन्यास में भी पात्रों का संचालन स्वयँ लेखक ने किया है
और पात्रों को स्वतंत्र रूप से अपना जीवन संचालित करने के लिए
लेखक ने बहुत ही कम सहयोग और सुविधायें दी
अन्य परिस्थितियाँ हैं। फिर भी उपन्यास में स्वाभाविकता पाई जाती
है और चित्रण बहुत सजीव हुआ है । उपन्यास
के पात्रों के मानसिक विकास का इसमें क्रमबद्ध इतिहास
मिलता है और आज की सामाजिक समस्याओं का इसमें सुन्दर
चित्रण लेखक ने किया है ।

इस प्रकार हमने देखा कि कॉमरेड यश ने हिन्दी-उपन्यास साहित्य को एक नवीन दृष्टिकोण दिया है, एक नई विचारधारा दी है और एक विचारत्मकता का नवीन बुद्धिवादी स्तर दिया है। परन्तु यह सब होते हुए भी आपने कलाकार के कर्त्तव्य को निष्पक्ष भाव से नहीं निभाया और यही कारण है कि उनका साहित्य अनेकों स्थलों पर मरुभूमि सा प्रतीत होने लगता है ।

(१४)

राधिकारमण प्रसाद सिंह

(जन्म सन् १८९० ई०—जीवित)

सूरजपुरा के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी ने हिन्दी के कहानी क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करके उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण किया है। 'सूरदास', 'पुरुष और नारी', 'राम और रहीम' टूटा तारा', 'सावनी सभा', 'गाँधी टोपी', इत्यादि आपके उपन्यास आज तक प्रकाशित हो चुके हैं। 'राम और रहीम' में लेखक के शब्दों में धर्म और समाज का कच्चा चिट्ठा है। लेखक लिखता है कि इसमें "अध्यात्म के साँचे में शृङ्गार है, फैशन का दामन थामे दर्शन है। इसी लिए वास्तविकता की सादी ज़मीन पर नैतिकता की किनारी टँकी है। यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के छींटे हैं। आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी सज-धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है।" लेखक ने आधुनिक युग के आचार-विचार को बेला और बिजली दो चरित्रों द्वारा प्रस्फुटित करने का प्रयत्न किया है। इनमें से एक के जीवन में सोते-जागते राम बस गया है और दूसरी के लिए राम एक उपाहस की वस्तु है, क्रीड़ा है। एक पुरुष द्वारा कुचली जाती है और दूसरी पुरुष की छाती पर सवार रहती है। इस उपन्यास में पाश्चात्य सभ्याता से प्रभावित वर्गों का लेखक ने कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत किया है। नवाब साहेब, मैनेजर साहेब, मिस्टर सलीम, मिस साहेबाँ, मिस्टर अमीन आदि के चरित्रों का चित्रण लेखक ने

बड़ी कुशलता पूर्वक सजीवता के साथ किया है। दूसरी ओर दिनेश पंडित, श्रीधर पंडित, गुरुवर गिरिधारी लाल, ओझा इत्यादि के भी चरित्रों का चित्रण लेखक ने खूब किया है। समस्त उपन्यास में सबसे सबल चित्रण बेला और बिजली का है जिनपर कि उपन्यासकार ने अपने उपन्यास के उद्देश्य तथा उसके चित्रण को आधारित किया है। उपन्यास में दो कहानियाँ पृथक-पृथक रूप से विकसित होती है। एक बेला को लेकर और दूसरी बिजली को लेकर। कहानियों के संघटन में उपन्यासकार ने बहुत कलात्मकता और सतर्कता से काम लिया है। उपन्यास में लम्बे-लम्बे वर्णन अनेकों स्थानों पर अरोचक हो गए हैं।

पुरुष और नारी

अपका दूसरा उपन्यास 'पुरुष और नारी' है जिसका नायक 'अजीत' और नायिका 'सुधा' है। 'अजीत' प्रतिज्ञा करता है कि वह अपना विवाह भारत आजाद होने से पूर्व नहीं करेगा, न कोई व्यापार ही करेगा और न किसी अन्य धंधे को हाथ में सँभालेगा। उसका यह निश्चय दृढ़ था परन्तु उसकी भाभी की बहिन 'सुधा' के सौंदर्य-आकर्षण ने उसका मन विचलित कर दिया। आकर्षण दोनों ओर बराबर हुआ। सुधा भी पूर्ण रूप से अजीत की ओर खिंच गई। एक दिन विवश होकर अजीत को अपनी प्रतिज्ञा-पालन के लिए वहाँ से भाग खड़ा होना पड़ा और वह भाग कर सीधा साबरमती आश्रम पहुँचा। जब अजीत वहाँ से लौटा तो सुधा का विवाह एक वृद्ध के साथ हो चुका था। अजीत के जीवन में 'सुधा' ने वह स्थाई स्थान बना लिया था कि विवाह की सूचना पाकर भी वह उसे भुला न सका; बल्कि उसका अपना जीवन ही बदल गया। उसने रेखा नदी के तट पर एक आश्रम की स्थापना की और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति उस आश्रम के अर्पित कर दी। दूसरी ओर 'सुधा' ने पहिले तो शराबी

के साथ निरूपण किया है। 'सुधा' का चरित्र एक ऐसा आदर्श और आकर्षक चरित्र है कि जिसके अन्दर आद्योपाँत मौन तथा दृढ़ गाम्भीर्य की झलक मिलती है। उसके जीवन को लेखक ने बहुत ही सतर्कता के साथ एक निश्चित व्यवस्था के अन्दर संचालित किया है और कहीं पर भी उसमें भावुकता की वह कमजोरी नहीं दिखलाई देती जिसे वासना के क्षेत्र में ले जाकर पाठक उसे उपहास या मनोरंजन की सामग्री बना सके। परन्तु जहाँ सुधा के चरित्र में हमें इतनी सबलता मिलती है वहाँ अजीत का चरित्र काफ़ी दुर्बल है। लेखक ने उपन्यास के पात्रों को अपनी मन मर्ज़ी के आधार पर इधर-उधर घुमाया है। सुधा को अजीत के आश्रम में लेजाकर लेखक ने स्वाभाविता का बिलकुल ही अन्त कर दिया है। इस उपन्यास में न तो पात्रों द्वारा परिस्थितियों का निर्माण हुआ है और न ही पात्रों का संचालन परिस्थितियों द्वारा होता है। बल्कि यह सब भार लेखक ने स्वयँ अपने ऊपर वहन कर लिया है। इसीलिए इस उपन्यास के कथानक में हमें यथार्थ्य की अपेक्षा मनोरंजकता अधिक दिखलाई पड़ती है।

राजा साहेब के उपन्यासों में कलात्मक-चित्रण कल्पना का आश्रय लेकर मनोरंजकता की कसौटी पर कुन्दन बन कर पूरा उतरता है परन्तु यथार्थवाद की कमी कहीं-कहीं पर बहुत खलने लगती है। आपकी भाषा में उर्दू के शब्दों की कहीं-कहीं पर ऐसी झड़ी लगती है कि साधारण हिन्दी का पाठक खीज उठता है और उसका सब आनन्द नष्ट हो जाता है। आपकी भाषा सर्व-साधारण की भाषा न होने के कारण पाठकों की विशेष प्रिय बनने में असमर्थ रही है और जो आँतरिकता आपने उसमें लाने का प्रयास किया है उससे चाहे चमत्कार को प्रश्रय भले ही मिला हो, स्वाभाविकता नष्ट हो गई है। संवाद आपके सुन्दर और हृदय-

श्राढ़ी होते हैं। कहीं-कहीं कुछ लम्बे हो जाने के कारण खटकने भी लगते हैं परन्तु अधिकाँश ऐसे नहीं हैं।

अन्त में हम यह कह देना आवश्यक समझेंगे कि राजा जी के उपन्यासों में नवीनता का अभाव और प्राचीन अभिरुचिन का ही प्राधान्य है परन्तु कला के दृष्टिकोण से उनमें अवश्य सौंदर्य वर्तमान है और भावुक हृदय के लिए उनमें आशातीत गुणों की थाती धरोवर के रूप में सुरक्षित रखी हुई है।

ठाकुर श्रीनाथ सिंह

ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठित साहित्य-कार हैं और आपकी गति साहित्य की प्रत्येक दिशा में समान रूप से रही है। आप एक ऐसे ख्याति प्राप्त पत्रकार हैं कि जिनकी लेखनी में बल है। आपने हिन्दी साहित्य में जो अपना स्थान बनाया है वह केवल अपनी लेखनी के ही बल पर बनाया है। उपन्यास-साहित्य में ठाकुर साहेब की विशेष प्रगति रही है और आपके चार उपन्यास 'जागरण', 'उलझन', 'प्रभावती' और 'प्रजा मंडल' प्रकाशित हुए हैं। आपका जागरण उपन्यास हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से अपनाया गया है और इस उपन्यास ने साहित्य-जगत में बहुत ख्याति प्राप्त की है।

जागरण

जागरण की कहानी लेखक ने ग्राम-सुधार की योजना को लेकर लिखी है। यह ग्राम-सुधार की योजना पूर्ण रूप से गाँधी-वादी विचारों की प्रतिपादक है। अछूतोद्धार की समस्या को भी लेखक ने इस उपन्यास में छुआ है और पात्रों के वाद-विवादों द्वारा उस पर प्रकाश डाला है। सत्याग्रह की रूप रेखा भी इस उपन्यास में लेखक ने प्रस्तुत की है और उस काल के राज-कर्मचारियों की नृशंसता पर भी प्रकाश डाला है। उपन्यास में सैद्धाँतिक स्पष्टी-करण होते हुए भी यथार्थवादी स्वाभाविकताको निभाने का लेखक

ने प्रयत्न किया है। सोद्देश्य रचना में शिक्षा को प्रधानता अवश्य दी गई है परन्तु वास्तविकता का गला घोंट कर नहीं। लेखक ने एक कलाकार के नाते इस उपन्यास में कहीं-कहीं चमत्कार को भी प्रश्रय दिया है और उससे उपन्यास की रोचकता बढ़ गई है।

ठाकुर साहेब की भाषा बहुत सजीव है और चरित्र-चित्रण बहुत मार्मिक। समस्याओं के समाधान में खोकर लेखक अपने पात्रों को नहीं भुलाता और वह उनके साथ न्याय से काम लेता है। आपकी रचनाओं में रोचकता इतनी अधिक है कि पाठक उपन्यास को उठा कर एक बार शुरु करने के पश्चात् ही नीचे रख सकता है। जागरण की ही भाँति आपकी अन्य रचनाएँ भी रोचक हैं और उनकी भाषा में प्राँजलता पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

भगवती चरण वर्मा

(जन्म सन् १६०३ ई०—जीवित)

भगवती चरण वर्मा हिन्दी के ख्याति प्राप्त कवि और उपन्यासकार हैं। आपके तीन उपन्यास हिंदी में प्रकाशित हुए हैं, 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'। यह तीनों ही उपन्यास हिंदी में सम्मानित हुए और पाठकों ने इन्हें अपनाया। चित्रलेखा का फ़िल्म-चित्र कलकत्ता से मिस्टर आर० शर्मा ने केदार शर्मा के डाइरेक्शन में बनाया जिसे जनता ने काफ़ी पसंद किया। इस चित्र द्वारा लेखक को काफ़ी ख्याति मिली।

चित्रलेखा

'चित्रलेखा' उपन्यास समस्या-मूलक है जिसमें लेखक ने इस विषय पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है कि, "पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है?" व्यक्ति के जीवन के गुण और अवगुणों को लेखक ने अपने रूप से परखा है और उन्हें परखने की उसने अपनी ही कसौटी प्रस्तुत की है। भोग और त्याग के साकार रूपों को लेकर चित्रलेखा में उपन्यासकार ने बीजगुप्त और कुमारगिरि के चरित्रों का निर्माण किया है। अनुराग और विराग की दोनों साकार प्रतिमाएँ हैं।

बीजगुप्त के जीवन के साधन तथा लक्ष्य दोनों आमोद-प्रमोद हैं और कुमारगिरि के जीवन का लक्ष्य मोक्ष है और उसे प्राप्त करने का साधन तप है। बीजगुप्त भोगमय रहकर भी अपने

चरित्र का निर्माण करता है और एक दिन वह महान त्यागी बन जाता है परन्तु संसार को तुच्छ समझ कर, संसार के सौंदर्य को घृणा की दृष्टि से देखने वाला तप और साधना के पीछे पागल हुआ कुमारगिरि एक दिन अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है। लेखक महाप्रभु रत्नाम्बर द्वारा पाप और पुण्य की परिभाषा प्रस्तुत कराता है। महाप्रभु रात्नाम्बर कहते हैं, "पाप कुछ नहीं है। वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।" पाप और पुण्य का साधारण अर्थ यही लगाया जाता है कि सामाजिक नियमों का तोड़ना पाप है और उनका पालन करना पुण्य; परन्तु यह नियम भी सर्वांगी-पूर्णता का द्योतक नहीं। सामाजिक नियम भी रूढ़ियों में फँस कर पुन्य से पाप की सीमा तक पहुँच चुके हैं। ऊपर से महात्मा दिखलाई देने वाले अन्दर से ठग हैं और ऊपर से व्यभिचारी प्रतीत होने वाले भी अपनी आत्मा में देवताओं को चुनौती देने वाली जिज्ञासा लिए बैठे हैं। बस इस विचार-धारा का कलात्मक चित्रण हमें इस उपन्यास में मिलता है। मानव का ऊपरी आवरण उसकी भावनाओं का द्योतक नहीं हो सकता। ऊपर से सजीव दिखलाई देने वाली आत्माएँ मृतक समान कभी-कभी सिद्ध होती हैं और मृतक-प्राय शरीरों में कभी २ आत्मा का निखरा हुआ रूप झाँकता दिखाई दे जाता है। इस प्रकार 'चित्र-लेखा' हिन्दी में अपने ढंग का विचित्र समस्या-मूलक उपन्यास है जिसमें लेखक ने व्यक्ति को ऊपर से छूने की अपेक्षा अन्दर से छूने का प्रयत्न किया है और धार्मिक रूढ़िवाद पर इस उपन्यास में गहरी चोट की गई है। बनावट और ढकोसलेबाज़ी के विपरीत विद्रोह की भावना है और मानव के मानव-रूप में ही आत्मा का सबसे निखरा हुआ स्वरूप देखने का लखक ने प्रयत्न किया है और लेखक उसमें पूर्ण रूप से सफल है।

चित्रलेखा की कथा का निर्माण यों ही अनायास हुआ हुआ प्रतीत नहीं होता; वरन् लेखक ने एक क्रमबद्धता के साथ उसका संचालन किया है। वृन्दावन लाल वर्मा जी की भाँति घटनाओं के संघटन में लेखक ने एक योजना का आश्रय लिया है और कथा का आदि, विकास और अन्त सब पूर्ण रूप ने व्यवस्थित है। ऐसा होने से रचना में कुछ बनावट तो अवश्य आ गई है परन्तु साथ ही साथ उसमें इतनी चुस्ती भी वर्तमान है कि व्यर्थ का कलेवर नहीं बढ़ने पाया है। घटनाओं और पात्रों के कार्य-कलापों का समन्वय लेखक ने इतने कला-पूर्ण ढंग से किया है कि कहीं पर भी पूर्व अर्जित होने के कारण ऐसी बनावट नहीं प्रतीत होती जो पाठक को अखरने लगे और रचना में शुष्कता आ जाए। उपन्यास में दो कथाएँ प्रथक-प्रथक रूप से चलती हैं जिनमें एक के सूत्रधार कुमारगिरि हैं और दूसरी के बीजगुप्त। दोनों कथाओं का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने वाली है 'चित्रलेखा'। उपन्यास समस्या और चरित्र-चित्रण को लेकर सीधा साधा चलता है उसमें घटनाओं का जाल बिछा हुआ नहीं है। इस चरित्र-प्रधान उपन्यास में कुछ चरित्रों के अंदर लेखक ने विचित्रता भी दिखलाने का प्रयत्न किया है; जैसे योगी कुमारगिरि का राजसभा में सबको अपने आत्मबल द्वारा अभिभूत करना। इस उपन्यास में 'चित्रलेखा' और 'बीजगुप्त' के चरित्र बहुत सबल हैं जिन पर परिस्थितियों के आघात होते हैं, यह विचलित भी हो उठते हैं, परन्तु इनकी आत्मा का बल इनका साथ नहीं छोड़ता। 'चित्रलेखा' नर्त्तकी होते हुए भी विदुषी है। वह अपनी सूक्ष्मदृष्टि से संसार को परखने का प्रयत्न करती है। पाटलीपुत्र के युवक-हृदयों से वह खिलौने की भाँति खेलती है और झुकना उसने नहीं सीखा। वह झुकती है अपने से भी सबल पात्र बीजगुप्त के सम्मुख। बीजगुप्त की महत्ता से वह प्रभावित होती है और

उसके सामने प्रार्थी भी बनना स्वीकार करती है। यह टक्कर लेती है त्यागी कुमारगिरि से और उसे उसकी महिमा के उत्तुंग शिखर से उठा कर नीचे पटक देती है। परन्तु यहाँ वह कुमारगिरि को गिराने में अपने भी गिरावट के चिन्ह देख कर विकल हो उठती है। कुमारगिरि को परास्त करने में उसकी नारी-प्रतिहिंसा-शक्ति कार्य कर रही थी परन्तु उसके परास्त होते ही उसे अपनी भूल समझने में देर नहीं लगती और वह बीजगुप्त की ओर लपकती है। कुमारगिरि चित्रलेखा के सम्मुख गिर गया परन्तु बीजगुप्त का आसन वहीं पर ज्यों का त्यों बना हुआ था। फिर 'चित्रलेखा' जब जाकर बीजगुप्त के चरणों पर गिर गई तो बीजगुप्त ने उसे स्वीकार कर लिया और मानव की दुर्बलताओं को अपने विशाल हृदय के पास तक नहीं फटकने दिया। चित्रलेखा के चित्रण में लेखक ने जीवन का अनुभव, आत्म सम्मान, विदुषिता, चरित्र की सबलता, नारी सुलभ प्रतिहिंसा, उदारता और सौंदर्य तथा कला की विचित्र पराकाष्ठा का चित्रण किया है।

'चित्रलेखा' में लेखक ने उपन्यास-कला के सभी गुणों को समेट कर रख दिया है। इसके संवाद बहुत चुस्त और कथानक व्यवस्थित हैं। घटनाएँ सुगठित हैं और चरित्र-चित्रण बहुत ऊंचे दर्जे का है। कहानी बिल्कुल कल्पित है परन्तु पृष्ठभूमि पूर्णरूप से ऐतिहासिक है। देश-काल की परिस्थितिओं का चित्रण इसमें बहुत सजीव हुआ है। सामयिक वातावरण इतना सुन्दर चित्रित किया है कि आँखों के सम्मुख उस काल का सजीव चित्र आकर खड़ा हो जाता है। गुप्त-कालीन नागरिकों की वेश-भूषा, गुप्तराज्य की सभा का चित्रण, नागरिकों के रहन-सहन इत्यादि का चित्रण बहुत सजीव है। उपन्यास की भाषा बहुत सुन्दर तथा पाठकों के लिए रोचक है।

'चित्रलेखा' के पश्चात आपका 'तीन वर्ष' उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसके विषय में आपने कुछ न कहते हुए भी काफ़ी ज़ोरदार शब्दों में कहा है, "इस उपन्यास के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है;यह आपके सामने हैं और आपके सामने विश्व-साहित्य के अच्छे से अच्छे उपन्यास भी हैं। हाँ इतना अवश्य कहूँगा कि यह कहकर कि यह हिन्दी का उपन्यास है, इसमें होगा ही क्या, इसको रख न दीजिएगा—पढ़िएगा अवश्य। हिन्दी साहित्य अब इतना गिरा हुआ नहीं है जितना लोगों ने उसे समझ रखा है।"

'तीन वर्ष'

रमेश एक आदर्शवादी विद्यार्थी है जिसकी जीवन-कहानी को लेकर ही लेखक ने इस उपन्यास की रचना की है। यूनीवर्सिटी में दाखिल होने से पूर्व रमेश किताबों का कीड़ा बना रहा, यूनीवर्सिटी में उसका परिचय एक राजा के पुत्र अजित से हुआ। जीवन की वास्तविकता पर अजित ध्यान नहीं देता, बल्कि विचारों की दुनियाँ में उसने अपना स्थान बनाया हुआ है। अजित का जीवन बड़ा ही कलात्मक लेखक ने प्रस्तुत किया है। अन्त में अजित एकदम त्यागी बनकर साधु बनने की मनोवृत्ति प्रस्तुत करता है। यह अजित के जीवन का परिवर्तन एक विचित्र परिवर्तन है जिसमें स्वाभाविकता लेश-मात्र भी नहीं दिखलाई देती। जीवन की पोषित वृत्तियों का एक क्षण में परिवर्तित हो जाना जादू नहीं तो और क्या है ? लेखक ने किताबी कीड़े रमेश को पुस्तक के दूसरे भाग में एकदम बदल कर मानव से दानव बना दिया है। वह पक्का शराबी बन जाता है, गुन्डों का मुँह मोड़ सकता है, उन्हें भयभीत कर सकता है, डरा सकता है। वेश्याएँ भी उस पर मुग्ध हो उठती हैं और हर देखने वाले को प्रभावित करने की शक्ति उसके व्यक्तित्व में वर्तमान हो जाती है।

इस उपन्यास में एक वेश्या के सत्य-प्रेम और एक स्त्री के असत्य प्रेम को समकक्ष रख कर लेखक ने तुलना की है। साँसारिक दृष्टि से जो घृणित दिखलाई देता है वह भी कभी-कभी आत्मा के कोने में अमर प्रेम की स्थापना कर सकता है। प्रभा और सरोज के रूप में नारी के दो स्वरूपों का लेखक ने बहुत ही कलात्मक चित्रण किया है। 'तीन वर्ष' उपन्यास को हम लेखक की कल्पना-शक्ति की उपज मानते हैं क्योंकि इसके पात्रों, इसकी घटनाओं, इसकी परिस्थितियों और इसके चित्रणों में हमें कहीं पर भी स्वाभाविकता का आभास नहीं मिलता और इसीलिए इसमें लेखक के यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन न होकर मिथ्या-चित्रणों का ही निरूपण हुआ है। लेखक ने उपन्यास लिखने से पूर्व अपना उद्देश्य निश्चित कर लिआ है और फिर उस उद्देश्य की पूर्ति का काम पात्रों के सिर पर थोप दिया गया है। अच्छा होता यदि उपन्यासकार पात्रों को अपनी विचारधारा में बहने के लिए छोड़ देता और फिर उनके जीवन से समस्या का प्रतिपादन होता तो वास्तव में कला का वह वह सुन्दर उदाहरण उपस्थित होता कि जिसमें स्वाभाविकता भी होती और यथार्थवादिता भी। रचना सोद्देश्य तो होनी ही चाहिए परन्तु उद्देश्य की छाया इतनी काली नहीं हो जानी चाहिए कि जिसके नीचे दब कर पात्र श्वाँस ही न ले सकें और वह लेखक के हाथों में निर्जीव काठ के पुतलों की भाँति नाचते रहें।

इस उपन्यास में वर्मा जी ने विश्वविद्यालय के वातावरण का सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। उपन्यास में संवाद बहुत तीखे और सुन्दर नही हैं। कहीं-कहीं तो बहुत लम्बे हो गए हैं। अधिकाँश संवाद नाटकीय ढंग पर नहीं लिखे गए हैं। भाषा उपन्यास की सुन्दर है और उसमें पर्याप्त चुस्ती है परन्तु रचना में चुस्ती नहीं और कल्पना का प्राधान्य मिलता है। लेखक ने जिस

उद्देश्य को लेकर इस उपन्यास की रचना की है कह नहीं सकते वह उसमें अपनी कहाँ तक सफलता समझता है। यह सब होने पर भी इस उपन्यास में आधुनिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती है और इसमें लेखक ने कुछ नवीन समस्याओं और प्रवृत्तियों पर विचार किया है।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

इसके बाद भगवतीचरण वर्मा जी का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में एक परिवार के दुर्दिनों की कहानी है जिसमें रामनाथ तिवारी के तीनों पुत्र टेढ़े मेढ़े रास्तों को अपना लेते हैं। रामनाथ तिवारी पूरे अहङ्कारी व्यक्ति हैं जिनकी अंग्रेजी-राज्य में भक्ति है और उन्हें ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट का पद मिला हुआ है। बड़े लड़के दयानाथ को उन्होंने इसलिए त्याग दिया कि वह काँग्रेस का सदस्य बन गया। छोटा लड़का प्राणनाथ क्राँतिकारी बन बैठा और एक अभियोग में गिरफ़्तार हो गया। प्राणनाथ का मुख़बिर बनना अभिमानी पिता सहन नहीं कर सकता था। प्राणनाथ ने अपनी प्रेमिका वीणा द्वारा जेल में विष प्राप्त करके आत्म-हत्या कर ली। बीच का लड़का उमानाथ कॉम्यूनिस्ट बन गया। वह रात्रि में आकर पिता से दस हज़ार रुपये की याचना करता है परन्तु पिता उसे भी भगा देते हैं। अब अकेले रह गए रामनाथ तिवारी और वह स्वयँ कह उठते हैं, "अब अकेले तुम प्रेत की तरह मौजूद हो रामनाथ ! प्रभा को मृत्यु से रोक सकते थे—अगर जेल में जाकर तुम उससे मिले न होते ! उमानाथ को रुपया न देकर तुम बचा सकते थे लेकिन तुमने उसे अंधकार और निराशा में ढकेल कर हमेशा के लिए अपना शत्रु बना लिया और दया—वह तुम्हारे पास आया अपनी पत्नी और बच्चों के साथ ! लेकिन तुमने उसे निकाल बाहर किया। अपने ही हाथों तुमने अपना विनाश किया !

तुम्हारी समर्थता—तुम्हारी अहमन्यता—यह सब निर्माण नहीं कर सके—इन्होंने भयानक विनाश किया है—तुम अधम हो—तुम पापी हो।" बस इन पंक्तियों में समस्त उपन्यास का सार आ जाता है। रामनाथ तिवारी का चरित्र बड़ा प्रबल और दृढ़ है जिसके निर्माण में लेखक ने पूर्ण सतर्कता से काम लिया है। तिवारी जी में अपने वर्ग के गुण तो वर्तमान हैं ही साथ ही साथ कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ भी हैं जिनसे बल पाकर उनका चरित्र और भी निखर उठा है। तिवारी जी परिवार का सर्वनाश करके भी अपने स्थान पर स्थिर हैं, दृढ़ हैं, टस से मस होना उन्होंने नहीं सीखा। विषम परिस्थितियों में मानवीय दुर्बलताओं का भी उनके जीवन में उदय होता है परन्तु उनके अहँभाव और हठवादी प्रवृत्ति के सामने कोई भावुकता नहीं ठहरती, कोई भी प्रेम अथवा स्नेह-बंधन अपना जाल नहीं फैला सकता। रामनाथ तिवारी सूखे हुए काठ के समान हैं जो परिस्थितियों में पड़ कर टूट सकते हैं मुड़ना नहीं जानते, झुकना नहीं जानते। रामनाथ के छोटे भाई हैं श्यामनाथ जिनका व्यक्तित्व तिवारी जी के व्यक्तित्व में दब गया है और इसीलिए वह सुखी भी हैं। उनकी जीवन भर तिवारी जी से खूब पटी। तिवारी जी के पुत्रों की न पट सकी इसका प्रधान कारण यही है कि उन तीनों में भी तिवारी जी के ही समान अपना-अपना व्यक्तित्व है और आत्म-निर्माण की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी है। इन प्रधान पात्रों के अतिरिक्त वीणा, झगड़ू मिश्र, विश्वम्भर नाथ इत्यादि के भी चित्रण बहुत सजीव हुए हैं।

इस उपन्यास के पात्र 'तीन वर्ष' उपन्यास के पात्रों की भाँति कोरी कल्पना के प्रसून मात्र नहीं हैं, उनमें जीवन है और यथार्थवादी रूप रेखा भी; परन्तु फिर भी उन्हें लेखक ने अपनी बाग-डोरों से साध कर ही संचालित किया है, स्वतंत्रता उन्हें बहुत कम

मिल सकी है। इस उपन्यास में लेखक का पात्रों पर नियंत्रण कुछ ढीला अवश्य है और पात्रों को कुछ खुल कर खेलने का भी अवकाश मिला है। लेखक ने केवल परिस्थितियों का ही चित्रण नहीं किया वरन् पात्रों के साथ भी सहानुभूति के साथ काम लिया है। उमानाथ का चरित्र-चित्रण असंगत रूप से हुआ है, उसमें-स्थान स्थान पर अनेकों कमियाँ आ गई हैं। जर्मनी से लौटकर वह मानो भारतीयता को बिलकुल ही भूल जाता है। इस उपन्यास में सन् १९३० के नमक क़ानून तोड़ने वाले काँग्रेस के आँदोलन की पृष्ठभूमि को लेखक ने लिया है। पात्रों के वाद-विवादों में लेखक ने भारत के समकालीन विभिन्न दलों के दृष्टि-कोणों को छूने का प्रयत्न कलात्मक ढंग से किया है। रामनाथ तिवारी ताल्लुकेदारी के प्रतीक हैं और यह इस उपन्यास के प्रधान पात्र हैं। उपन्यास में काँग्रेस की, काम्यूनिज्म की और अंग्रेजों की तीनों विचारधाराओं और दृष्टिकोणों को लेखक ने लिया है और पूर्ण सफलता के साथ चित्रण किया हैं। उपन्यास में कुछ व्यंग्य-चित्र भी लेखक ने प्रस्तुत किए हैं और उनका चित्रण बहुत कलात्मक ढंग से हुआ है।

इस प्रकार वर्मा जी ने हिन्दी उपन्यास साहित्य में जो सहयोग दिया है वह अपने में मौलिकता रखता है और अंग्रेजी ढंग पर जो व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत करने का आपने प्रयत्न किया है वह सराहनीय है।

अन्य उपन्यासकार

सियाराम शरण गुप्त

'गोद', 'अंतिम आकाँक्षा', 'नारी', 'झूठ-सच' यह आपके चार उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में उत्तरोत्तर प्रतिभा और विकास का स्रोत दिखलाई देता है। 'नारी' आपका सबसे उत्तम उपन्यास है। 'गुप्त जी' अपने उपन्यासों में बाह्य जगत तथा अन्तर्जगत दोनों पर समान दृष्टि रख कर चलते हैं। ग्रामीण जनता की अंधभक्ति का सजीव चित्रण आपने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया।

सूर्यकाँत त्रिपाठी 'निराला'

सर्व कला-सम्पन्न कलाकार होने के नाते आपने उपन्यास-क्षेत्र में भी पदार्पण किया और हिन्दी साहित्य को 'अप्सरा' और 'अलका' उपन्यास प्रदान किए। आपने वेश्या-समाज में से हीरे बीनने का प्रयत्न किया है। 'अप्सरा' की अपेक्षा 'अलका' में चरित्र-चित्रण अच्छा है। यह उपन्यास सुखाँत है और इसमें ग्रामीण जनता का चित्रण मिलता है। उपन्यास की भाषा कला-पूर्ण है। स्त्री वर्णन में तो निराला जी ने विशेष सहृदयता से काम लिया है। इनके अतिरिक्त आपने 'निरुपमा', 'कुल्लीभाट', 'प्रभावती' 'बिल्लेसुरबकरिहा' इत्यादि अन्य उपन्यास भी लिखे हैं। 'प्रभावती' आपका ऐतिहासिक उपन्यास है। 'चोटी की पकड़' आपका नवीनतम उपन्यास है। इस उपन्यास में बंगाल के ज़मीदारों का यथार्थवादी चित्रण है। निराला जी के उपन्यासों में जो व्यंग्य की पुट रहती है वह हिन्दी के अन्य किसी उपन्यास लेखक की

रचना में नहीं पाई जाती। इस दृष्टि से आपका स्थान हिन्दी उपन्यासकारों में हमें बहुत ऊँचा दिखलाई देता है।

सर्वदानंद वर्मा

'संस्मरण', 'नरमेध', 'रानी की डायरी', 'निकट की दूरी', 'प्रश्न', 'आनंद निकेतन' इत्यादि आपके कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। 'नरमेध' आपका अच्छा उपन्यास है। इनमें चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और सुन्दर हुआ है। प्रगतिवाद की झलक इनके साहित्य में यत्र-तत्र वर्तमान रहती है।

अंचल

'चढ़ती धूप', 'उल्का' और 'नई इमारत' आपके उपन्यास हैं। आपने अपने उपन्यासों में कल्पना से काम लिया है और प्रगतिशील लेखक होने के नाते आपसे जिस यथार्थवाद की आशा की जा सकती है उसका आपकी रचनाओं में उथला रूप वर्तमान है।

पहाड़ी

पहाड़ी हिन्दी-साहित्य में तूफ़ान की तरह अपनी कहानियां को लेकर आया और फिर प्रयाग के एक कोने जाकर बैठ रहा। 'सराय' और 'चल चित्र' आपने दो सुन्दर उपन्यास लिखे हैं

अज्ञेय

'शेखर एक जीवनी' आपका एक उपन्यास है। एक व्यक्ति के जीवन-तथ्यों का चित्रण इस उपन्यास में लेखक ने किया है। यह उपन्यास बुद्धिवाद से प्रेरित है, भावना तत्व से नहीं। लेखक ने चित्रण में कलात्मक अनुभूति से काम लिया है और साधारण से साधारण घटनाओं के साथ भी सहानुभूति दिखलाई है। इस रचना को हम उपन्यास न कहकर काल्पनिक जीवनी भी कह सकते हैं। संवेदना 'शेखर एक जीवनी' में लेखक ने कूट-कूट कर भर दी है।

शेखर एक जीवनी अज्ञेय जी की एक ही रचना उनकी उपन्यासकारों में गिनती कराने के लिए काफ़ी है। रचना अपने ढंग की हिन्दी में अकेली पुस्तक है और पाठकों ने इसे सम्मान के साथ अपनाया है।

भगवती प्रसाद वाजपेई

भगवती प्रसाद वाजपेई हिन्दी के बहुत पुराने उपन्यासकार हैं और आपने अनेकों उपन्यासों और कहानियों का सृजन किया है। आपकी भाषा में प्रवाह है और हृदय में भावुकता। महान गम्भीर विषयों की विवेचना में यह सच है कि आप सफल नहीं हो पाए हैं, परन्तु फिर भी चित्रण आपका सुन्दर होता है और कथावस्तु में घटनाओं का जमाव भी। 'प्रेम पथ', 'ललिता', 'पियासा', 'दो बहनें', 'गुप्त धन', इत्यादि आपके उपन्यास हैं। 'प्रेम-पथ' में अन्तर्द्वन्दों का सुन्दर चित्रण है। इनके अतिरिक्त 'पतिता की साधना', और 'निमन्त्रण' भी आपके अच्छे उपन्यास हैं। आपके सभी उपन्यास प्रायः प्रेम-प्रधान हैं और रोमाँतिक वातावरण उपस्थित करने की आपको धुन रहती है। रूपाकर्षण के कारण ही इनमें प्रेमाँकुर उत्पन्न होता है। उपन्यासों को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वाजपेई जी की नारी विषयक भूख अभी तक अतृप्त की अतृप्त बनी हुई है।

अनूपलाल मंडल

आपने अपने उपन्यासों में कई प्रकार की प्रणालियों का अनुकरण किया है और किसी विशेष प्रणाली को अपना लक्ष्य नहीं, बनाया। 'समाज की वेदी पर', 'रूपरेखा', 'निर्वासित', 'साकी', 'गरीब के वे दिन' 'ज्योतिर्मयी', 'ज्वाला', 'वे आगए' 'मीमाँसा', और 'अभिशाप', आपके उपन्यास हैं। 'मीमाँसा' मनोवैज्ञानिक है।

उपन्यासों के नामों से भी ज्ञात होता है कि सभी दिशाओं को उपन्यासकार ने छुआ है आप एक प्रतिभाशाली उपन्यासकार हैं।

उषादेवी मित्रा

आपकी रचनाओं में नारी-चित्रण की प्रधानता है। उपन्यास लिखने से पूर्व आपने छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं और हिन्दी साहित्य में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। 'वचन का मोल', 'पिया' 'जीवन की मुस्कान' इत्यादि आपके उपन्यास हैं। आपने अपने उपन्यासों में भारतीय सभ्यता की पाश्चात्य सभ्यता पर विजय दिखलाई है। इनकी रचनाओं में हमें व्यंग्य की भी पुट मिलती है। भारतीयता का प्रतिपादन करने में आपने रूढ़िवाद का प्रतिपादन नहीं किया, यहाँ यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है।

उपेन्द्रनाथ अश्क

'गिरती दीवारें' और 'सितारों के खेल' आपके सुन्दर उपन्यास हैं। अश्क जी एक भावुक और सरस व्यक्ति हैं और उसकी छाप इनकी रचनाओं में वर्तमान है। 'गिरती दीवारें' उपन्यास में आधुनिक युग का चित्रण है। प्राचीन रूढ़िवाद का इसमें अंतिम लोप दिखलाया गया है।

उदय शंकर भट्ट

'वह जो मैंने देखा' भट्ट जी ने एक उपन्यास भी लिखा है। इस उपन्यास में वर्तमान समाज और राष्ट्र का चित्रांकन लेखक ने किया है। चरित्र-चित्रण सफल है और भाषा बहुत प्राँजल है। उपन्यास हर दृष्टि से सफल है।

राँगेय राघव—

आपका 'घरौंदे' उपन्यास हिन्दी साहित्य में एक नवीन दृष्टि-कोण लेकर आया है। उपन्यास में रूढ़िवाद के प्रति कटु व्यंग्य की लेखक ने पुट दी है। आपके कई और उपन्यास छप चुके हैं।

राहुल साँकृत्यायन—

आपने 'भागो नहीं बदलो', 'जादू का मुल्क', 'जीने के लिए', 'सोने की ढाल', 'सिंह सेनापति', 'शैतान की आँखें' इत्यादि कई उपान्यास लिखे हैं। साँकृत्ययान जी एक प्रतिभाशाली लेखक हैं और उनकी प्रतिभा का प्रमाण उनकी रचनाओं से मिलता है।

कुटुम्ब प्यारी देवी—

आपका उपन्यास 'हृदय का ताप' सुन्दर है। लेखिका ने चरित्र-चित्रण सुन्दर किया है और घटनाओं का संघटन भी बहुत अच्छा है।

मोहनलाल महतो वियोगी'—

आपके 'पथ विपथ' और 'फ़रार' उपन्यासों ने हिन्दी में अच्छी ख्याति पाई है। 'पथ-विपथ' में सामाजिक भावना है और 'फ़रार' में क्राँतिकारी चेतना।

धर्मेन्द्र—

आपने 'रूप और ईश्वर' एक मनोरंजक उपन्यास लिखा है।

संक्षिप्त—

इनके अतिरिक्त 'डाक्टर सत्यनाराण', 'देवनारायण द्विवेदी', 'कुशवाहा कांत', 'ठाकु राजबहादुर सिंह', गुरुदत्त, इन्द्र विद्या वाचस्पति, वेणी प्रसाद वाजपेई, मन्मथनाथ गुप्त, गोविंद वल्लभ पंत, सुदर्शन, मिश्रबन्धु, अमृतराय, रामरतन भटनागर, तारा शंकर बन्धोपाध्याय, रामचन्द्र तिवारी, मोहनलाल महतो, जी० पी० श्रीवास्तव, रूपनारायण पांडेय, मोहन सिंह सेंगर पृथ्वीनाथ शर्मा इत्यादि अन्य लेखकों ने भी उपन्यास क्षेत्र में बहुत प्रगति की है।

इस प्रकार हमने देखा कि उपन्यास साहित्य के उत्थान में आदि से अंत तक नव-चेतना का ही प्राधान्य रहा है। धार्मिक भावनाका समावेश तो इस साहित्य में ना के बराबर ही दिखलाई

देता है। प्राचीनता का यदि कुछ समावेश हमें दिखाई भी देता है तो वह ऐतिहासिक उपन्यासों के अंतर्गत आ जाता है; परन्तु विशेष रूप से जिस समस्या और चेतना को लेकर उपन्यास साहित्य का सृजन हुआ है वह है आधुनिक समाज और आधुनिक राष्ट्र। समय की प्रगति से समाज और राष्ट्र का क्षेत्र बदल गया, विचारधारा बदल गई और दृष्टिकोण बदल गया। प्राचीन और नवीन का साहित्य में किस प्रकार समन्वय हुआ है इसकी रूप-रेखा सफल कलाकारों ने बहुत सुन्दर रूप में प्रस्तुत की है। आज का उपन्यास-साहित्य आज के मानव का इतिहास है, आज के समाज का चित्रण है और आज के राष्ट्र का नूतन संदेश है। इसमें जागरण की शक्ति है, उत्थान की प्रेरणा है और क्राँति का दृष्टिकोण है। आज के बुद्धिवादी युग ने किस प्रकार रूढ़िवादी अंधकार को चीर कर प्रकाश को प्रदर्शित किया है यह आज के उपन्यास-साहित्य की हर पंक्ति में लिखा है। आज के उपन्यासों का प्रत्येक पात्र मुक्त और सजीव है और बोलता तथा बातें करता है। वह कलाकार के हाथ की कठपुतली न होकर यथार्थवादी जीवित मूर्ति हैं जो अपने अन्दर अमरत्व का संदेश छिपाए हुए हैं। आज का साहित्य आने वाले युग को प्रेरणा देगा और यह सिखलाएगा कि किस प्रकार उसने भारत के अंधकारपूर्ण-युग में भी भारत वासियों को मशाल जला-जलाकर मार्ग दिखलाया है और अंत में लाकर उस स्वतन्त्रता के प्रकाश में खड़ा कर दिया है जिसमें आज का साहित्य पल रहा है पनप रहा है और पनपने कीसम्भावना है।

हम आशा करते हैं कि आज का साहित्य खंडनात्मक न होकर मंडनात्मक हो; क्योंकि भारत के युग-युग से थके-माँदे प्राँणों में अभी खंडन को सहन करने का बल नहीं आया है। यह बल साहित्य को ही प्रदान करना है और इसका उत्तरदायित्व भी साहित्य पर ही है।

मेरे उपन्यास

(१७)

मेरे उपन्यास

मैं भारतीय राजनीति का एक सैनिक रहा हूँ और सन् १९३० तथा १९३० के पश्चात् जितने भी काँग्रेस आन्दोलन भारत में हुए उन सभी में मैंने सक्रिया भाग लिया है। परन्तु ज्यों ही आन्दोलन समाप्त हुए त्यों ही में अपनी शिक्षा तथा शिक्षा के पश्चात् व्यक्तिगत समस्याओं में उलझ गया। हिन्दी में न केवल उपन्यास बल्कि कविता कहानी, एकाँकी, समालोचना और इतिहास लिखना मैंने सन् १९४० तक पर्याप्त वेग के साथ प्रारम्भ कर दिया था। सन् १९४० तक मेरे 'विचित्र त्याग' 'दो पहलू', 'ललिता' तथा 'जुबैदा' चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे।

सन् १९४० के पश्चात १९४२ के आन्दोलन ने मेरा जीवन अव्यवस्थित कर दिया और फिर व्यक्तिगत परेशानियों में उलझ कर सन् १९५० तक मैं हृदय में उत्कट इच्छा रखते हुए भी साहित्य को कुछ न दे सका। सन् १९४८ में मेरा 'प्रेम समाधि' उपन्यास प्रकाशित अवश्य हुआ परन्तु यह उपन्यास मैंने सन् १९४० में ही लिखा था इस लिए इसमें कोई विशेष नवीनता नहीं थी और भारतीयता के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना का प्रतिपादन किया गया है।

विचित्र-त्याग और ललिता मेरे सामाजिक उपन्यास हैं जिनमें सामाजिक समस्याओं को मैंने एक कलाकार के नाते

छूने का प्रयत्न किया है। यह मेरी प्रारम्भिक रचनायें हैं जिसमें उद्देश्य गौण है और चरित्र-चित्रण तथा मनोरंजकता प्रधान। वह मेरे जीवन का भावना-काल था जिसमें भावुकता से प्रेरित होकर मैं जिस किसी रचना को भी पढ़ता था उसी प्रकार की रचना लिखने की भावना मेरे हृदय में जाग्रत होती थी। उस समय मैंने जैसा-जैसा भी पढ़ा वैसा वैसा लिखा। कविता पढ़कर कविता लिखने की भावना हृदय में जाग्रत होती थी और उपन्यास पढ़कर उन्यास लिखने की। परन्तु जीवन का यह बहाव अधिक दिन साथ न दे सका और मेरी विचारधारा ने अपना मार्ग निर्धारित करने का प्रयत्न किया। इस दिशा में मेरा पहिला प्रयत्न 'दो पहलू' उपन्यास था।

जिस समय मैंने 'दो पहलू' उपन्यास लिखा उस समय भारत में काँग्रेस आन्दोलन बड़े जोर-शोर से चल रहा था। महात्मा गाँधी के नमक कानून तोड़ने वाले आन्दोलन की स्मृति भारतीय जनता के हृदयों पर अंकित थी और जनता के जीवन में स्वतंत्रता की जागृति वर्तमान थी। देश के नौजवान भारत को स्वतंत्र कर देने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा चुके थे और हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक मार्ग पर चलकर भारत की गुलामी की बेड़ियों को काट देने की उन्होंने क़समें खा ली थीं। पंजाब में सरदार भक्तसिंह ने जो क्राँतिकारी ज्वाला सुलगाई उसका उससे भी प्रखर रूप हम आज़ाद के रूप में तथा काकोरी केस के शहीदों के रूप में देख चुके थे। 'दो पहलू' उपन्यास में मैंने भारतीय राजनीति के दोनों क्राँतिकारी और अहिंसात्मक पहलुओं को लिया है और उन्हीं के प्रतीक स्वरूप सुरेन्द्र और माधव का निर्माण किया है। दोनों में एक दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति है और दोनों एक दूसरे को हृदय से प्यार करते हैं क्योंकि दोनों

दो पहलू

के चलने के मार्ग प्रथक-प्रथक होते हुए भी दोनों का लक्ष्य एक है, ध्येय एक है और एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों कटिबद्ध हैं।

इस उपन्यास में मैंने स्वतंत्रता-संग्राम के दोनों पहलुओं को लेकर पात्रों का निर्माण किया है और एक विशुद्ध कलाकार के नाते दोनों दलों के नायकों के क्रिया-कलापों को देखा और आँका है।

इसके पश्चात मैं एक लम्बे अर्से के लिए मौन हो गया और सन् १६४६ तक कुछ न लिख सका। परन्तु इसी बीच भारतीय

इंसान

विभाजन की एक ऐसी प्रभावशाली घटना भारत में घटी कि जिसने मेरे मानस में एक बेचैनी पैदा कर दी और मैं वाध्य हो गया 'इंसान' उपन्यास लिखने लिए।

मेरा इंसान कहानी कहने के लिए नहीं आया। यह आया है आज के उलझे हुए वातावरण में सुलझा हुआ मार्ग प्रस्तुत करने। उपन्यास का प्रारम्भ भारत विभाजन से होता है और प्रारम्भ में उसका बहुत ही सजीव चित्रण किया गया है। इस चित्रण के विषय में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी एक पत्र में मुझे लिखते हैं, "प्रिय शर्मा जी !

आपने अपने इस उपन्यास का बीज पंजाब के उस भयंकर उत्पात में रखा है जो भारतीय इतिहास का शायद सबसे काला धब्बा है। आरम्भ में आपने इस काल का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन किया है। आरम्भ का वर्णन बहुत सजीव हुआ है। उस लज्जाजनक उत्पात का वर्णन जब मैं पढ़ रहा था तो दो एक बार चित्त इतना विक्षुब्ध हुआ कि जी मैं आया कि पुस्तक बन्द कर दूं। मेरा हृदय वास्तव में रो उठा।"

'इन्सान' के प्रधान पात्र रमेश बाबू, शाँता और आज़ाद लाहौर से भारत में आकर अपने-अपने कार्य पर जुट जाते हैं

और फिर उपन्यास से भारत विभाजन की काली छाया एकदम लुप्त हो जाती है। भारत-विभाजन के काले पटल पर यदि कोई चमकदार और प्रकाशमान समस्या रही है तो वह यही है कि पुरुषार्थी रो-रो कर अपनी करुण-कहानी कहने के लिए नहीं बैठे, बल्कि वह कर्मठता के पथ पर आरुढ़ होकर उन्नति की ओर अग्रसर हुए हैं। इस प्रकार कुछ आलोचक तथा मेरे सजीव पाठक इस प्रारम्भिक भारत-विभाजन के चित्रण को अनावश्यक भी समझ सकते हैं। परन्तु बात वास्तव में यह नहीं है। उपन्यास आद्योपाँत समस्या-मूलक है और जिन समस्याओं का स्पष्टीकरण इसमें मैंने करने का प्रयत्न किया है उनका जन्म और विकास बहुत कुछ भारत-विभाजन पर ही अवलम्बित है। उदाहरण स्वरूप आज के राजनीतिक विकास में 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' जैसी प्रतिक्रियावादी संस्था का जन्म लेना, पंजाब में सिक्खों का साम्राज्य स्थापित करने की योजना बनाना इत्यादि ऐसी घटनाएँ हैं जिनका भारत-विभाजन से अप्राथक्यीय सम्बन्ध है। विभाजन के फलस्वरूप देश के कोने-कोने में अराजकता का फैलना और उस अराजकता का अवसर पाकर भारत में कॉम्यूनिस्ट पार्टी का वितंडावाद और तोड़-फोड़ की नीति भी इसी विभाजन के फलस्वरूप बलवती हुई। इसी अराजकता में कॉम्यूनिस्टों ने चीन में गृह युद्ध करके अपना साम्राज्य स्थापित किया और चीन को बल दिया, बर्मा में विद्रोह किया और इन्डोनीशिया में विद्रोह को चिंगारी सुलगाई। इसी लिए भारत की वर्तमान समस्याओं पर एक दृष्टि डालने के लिए यह मैंने आवश्यक समझा कि मैं उपन्यास को भारत-विभाजन के ही गर्भ से उठाऊँ।

उपन्यास में जितने भी पात्र मैंने लिए हैं वह प्रायः सभी सच्चे हैं, केवल नाम और परिस्थितियाँ बदल कर उनका चित्रण किया गया है। मेरे कुछ पाठक उपन्यास को पढ़कर शायद यह

भी अनुभव करें कि इस उपन्यास में मेरा कॉम्यूनिस्ट पार्टी के विपरीत विरोध प्रखर हो उठा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी काभी यही मत है। द्विवेदीजी लिखते हैं "एकबात मुझे और भी लगी है। बता देना उचित समझता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि आपके मन में कम्युनिज़्म के विरोध की बात अवश्य काम कर रही है। मैं इस विरोध करने को उचित या अनुचित नहीं कह रहा। उपन्यासकार का अपना विशेष दृष्टिकोण होना ही चाहिए। जिसके पास यह विशेष दृष्टिकोण नहीं है उसका उपन्यास घटनाओं का ऐसा निर्जीव बण्डल बन जाएगा कि आधुनिक पाठक उसमें कुछ रस ही नहीं पा सकेगा। मैं विशेष दृष्टिभंगी का विरोधी नहीं, समर्थक हूँ। फिर यह ज़रूरी ही है कि उस विशेष दृष्टिकोण की स्थापना करते समय उसके मार्ग में आने वाले अन्य मतों का स्पष्टीकरण होता रहे। परन्तु ऐसा नहीं लगना चाहिए कि किसी विशेष दृष्टिभंगी का विरोध ही लेखक का प्रधान उद्देश्य है, अपने विशेष दृष्टिकोण को स्थापना नहीं। आपकी इस पुस्तक को पढ़ते समल मुझे ऐसा लगा कि इसमें अपका अपना मत तो पृष्ठभूमि में पड़ गया है और कम्युनिज्म का विरोध प्रधान हो उठा है। परन्तु इस वाद को आपने रमेश के सुन्दर चरित्र का आश्रम लेकर जो निश्चय करना चाहा है वह बहुत कलात्मक और सुन्दर है।" परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता। जहाँ तक सिद्धाँतों का सम्बंध है, मेरे उपन्यास का नायक रमेश स्वतंत्र विचारों का व्यक्ति है, जो मानवता का सच्चा प्रतीक है और प्रत्येक मानव को प्रेम करता है। वह वीर है, साहसी है, कर्तव्य-परायण है, योग्य है और उसमें कार्य-कुशलता की पराकाष्ठा है। जति और धर्म के संकुचित विचार उसकी पवित्र आत्मा को छू तक नहीं गए हैं। वह स्वतंत्र विचार रखने वाला एक सबल भारतीय पत्रकार है जिसे कोई पार्टी ख़रीद नहीं सकती, जिसके मूल्य को आँकना किसी दल के बूते की बात नहीं। भारत और भारत की जनता का वह तुच्छ सेवक है। आज़ाद एक सिपाही है, नायक

नहीं, नेता नहीं। वह तो अंधे भैंसे की तरह जिस तरफ़ भी उसका मुख हो जाए दौड़ पड़ना जानता है। शाँता एक गम्भीर तथा विचारवती सलौनी बालिका है जिसने रमेश से निर्माण करना सीखा है और उसी के फलस्वरूप वह एक विद्यालय का निर्माण करती है। इस उपन्यास में रमेश की ही टक्कर का एक दूसरा प्रबल पात्र है और उसका नाम है कमला। कमला को मैंने इस उपन्यास में कॉम्यूनिज्म के प्रतीक स्वरूप लिया है। अन्य पात्रों के विषय में विस्तार पूर्वक यहाँ लिखना व्यर्थ है क्योंकि पात्रों के लिए तो मैंने उपन्यास ही लिखा है। कहानी कह कर केवल दिल बहलाने के लिए मैं इस उपन्यास में नहीं आया। मेरे पात्र इस उपन्यास में सर्वदा चेतन अवस्था में रहते हैं अव-चेतन अवस्था में नहीं और इसीलिए गम्भीर परिस्थितियों में फँसकर भी बुद्धि उनका साथ नहीं छोड़ती। पात्र स्वयँ बुद्धि की कसौटी पर व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं को कसते हैं और अपने निष्कर्ष निकालते हैं। त्याग और सहन-शीलता मेरे प्रधान पात्रों को जिस सभ्य धरातल पर ले आई है वहाँ से वह फिसलने वाले नहीं। 'इन्सान' आज के आदर्श भारतीय मानव का प्रतीक है जिसमें आदर्शवाद के लिए यथार्थवाद का गला नहीं घोटा गया और न ही छिछोरे यथार्थवाद को लेकर भारतीय आदर्शों की ही मिट्टी पिलीत की गई है।

विभाजन के समय भारत की सोई हुई दानव प्रवृत्तियाँ किस प्रकार देसी और विदेशी कुप्रभावों का बल पाकर जाग्रत हो उठीं और उनके हाथों में मानव किस प्रकार मदारी के बन्दर की भाँति नाचा, इसका सजीव चित्रण इस उपन्यास में दिया गया है। राष्ट्रीय तथा सामाजिक उथल-पुथल के क्षेत्र में मानवता के अटल सिद्धान्तों को लेकर मैंने 'इन्सान' का निर्माण किया है, सहानुभूति और सद्भावना के साथ भारत और पाकिस्तान के बिखरे हुए

विस्तृत क्षेत्रों में से यों ही कुछ सुशिक्षित और सभ्य पात्र उठा लिए हैं जिनका लक्ष हर सम्भव परिस्थिति में मानवता की रक्षा करना है। पारस्परिक भेद-भाव और घृणा को आश्रय न देकर ऐसी विनाशक शक्तियों के प्रति विद्रोह किया गया है।

मेरा 'इन्सान' क्राँतिकारी है, प्रगतिशील है, परन्तु निर्माण के पथ पर चलकर, खँडहरों में पुष्पों के बीज बोकर नहीं, उद्यानों में लहराती हुई खेती उगा कर। बुद्धि की कसौटी पर कस कर वह न अँधविश्वासी रूढ़िवाद के सामने मस्तक झुकाता है और न ही विदेशी प्रगतिवाद के हाथों में कठपुतली ही बन सकता है। उसका अपना मार्ग है और अपनी समस्याओं को सुलझाने के अपने रास्ते;वह सब की अच्छाइयों को अपनाकर अपने साँचे में ढालता है। भारत के इस विश्रृङ्खल-काल में मेरा 'इन्सान' भारतीय जीवन को श्रृङ्खला-बद्ध करने में समर्थ होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

'इन्सान' के विषय में दिल्ली के प्रसिद्ध हिंदी मासिक अगस्त सन् १९५१ 'अशोक' में डा० सी०बी० लाल गुप्त 'राकेश' एम०ए०डी० फ़िल लिखते हैं, "'इन्सान' के सभी पात्र बहुत सबल हैं और लेखक ने एक-एक पात्र के निर्माण करने में कलात्मक कौशल का प्रदर्शन किया है। भारत-विभाजन की समस्या को लेकर हिंदी में लिखा गया यह प्रथम उपन्यास है जिसका हिंदी साहित्य में अमर स्थान रहेगा। इन्सान भारत के काले दिनों का स्वर्णिम इतिहास है।... ...भारतीय प्रगति के जिस रूप को लेकर पं० यज्ञदत्त शर्मा ने इस उपन्यास का निर्माण किया है वह राष्ट्र के लिए एक चुनौती स्वरूप भी है और पथ-प्रदर्शन की रूप-रेखा भी। उपन्यास की प्रत्येक पंक्ति में मानवता का अमर सिद्धाँत लेखक ने फूँक दिया है मानव के सिद्धाँतों को लेकर इस रचना में जहाँ आदर्शवाद की झलक दिखलाई देती है वहाँ भारतीय-समाज के कठोर यथार्थवादी सत्य की अवहेलना भी उन्होंने नहीं की है। देशकाल

व्यापी परिस्थितियों का ऐसा सुन्दर चित्रण लेखक ने किया है कि परिस्थितियाँ बोल उठी हैं। हिंदी में अपने ढंग का यह प्रथम उपन्यास है।..........उपन्यास में कथनोपकथन आद्योपाँत नाटकीय ढंग से लेखक ने दिए हैं। एक-एक पात्र के मुख से निकली हुई उक्तियाँ विचार-धाराओं को आन्दोलित कर देती हैं। भारत की राजनीति में आजकल जितने भी वाद विकसित हो रहे हैं उन सभी के प्रतीक-पात्र इस उपन्यास में लेखक ने दिए हैं और उनके चरित्रों द्वारा ही उन वादों का कलात्मक स्पष्टीकरण किया है।............उपन्यास आद्योपाँत समस्यामूलक है जिसमें चरित्रों का चित्रण बहुत ही ऊँचे दर्जे का हुआ है।

उपन्यास में व्यंग की प्रधानता तो नहीं है परन्तु व्यंग-चित्रों की कमी भी नहीं है। समाज और विभिन्न वादों का सुन्दर खाका लेखक ने इस उपन्यास में खींचा है! यों ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपन्यास में लेखक ने कॉम्यूनिज्म के प्रति विशेष रूप से ज़हर उगला है और उसके प्रतीक पात्रों को रिडीकूल करने (उनका मज़ाक उड़ाने) में लेखक ने कुछ कसर उठा नहीं रखी है परन्तु हमें सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत नहीं होता। कॉम्यूनिज्म की प्रतीक कमला अन्त तक अपने सिद्धाँत पर अटल रहती है और अन्त में भी हम उसकी सफलता ही मानते हैं जब कि वह 'इन्सान' कार्यालय के ऊपर अमरनाथ को अपने प्रेम-जाल में फँसा कर छा जाती है। कमला राजनीति का वह निखरा हुआ पात्र है कि उसके अन्दर छिछोरे प्रेम और वासना को खोजना पात्र के साथ अनर्थ करना है। कमला मेरे विचार से इस उपन्यास की सब से सबल पात्र है जिसके अन्दर राजनीति के वह कीटाणु वर्तमान हैं जिनके बल से वह अन्त में 'इन्सान' की केन्द्र-शक्ति बन जाती है।..........इस नीति की पृष्ठ भूमि को लेकर 'इन्सान' उपन्यास की रचना करने में शर्मा

जी पूर्ण रूप से सफल हैं। ऐसे उपन्यासों की हिंदी साहित्य में आज विशेष रूप से आवश्यकता है कि जो राष्ट्र के निर्माण में सहायक सिद्ध हों। हिंदू और मुसलमानों की संकुचित-धार्मिक विचारधारा से इस उपन्यास का धरातल बहुत ऊँचा है। पं० यज्ञदत्त शर्मा ने 'इन्सान' की रचना करके हिंदी के पुराने-पुराने उपन्यासकारों को बहुत पीछे छोड़ दिया है।........ उपन्यास की भाषा बहुत ही सजीव और मुहावरेदार है। भाषा में चलतापन होने के साथ ही साथ एक ऐसी लोच है जो पाठक के हृदयों पर अपना गम्भीर स्थान बनाने में पूर्ण रूप से समर्थ है। उपन्यास की भाषा बहुत ही प्राँजल है। शर्मा जी के 'इन्सान' उपन्यास को पढ़ते समय हमें मुं० प्रेमचन्द के गोदान की याद आ जाती है। मुन्शी प्रेमचन्द के पश्चात् समाज और राष्ट्र को अपने साहित्य में साकार प्रस्तुत कर देने वाले इस उपन्यास का हिंदी साहित्य में विशेष रूप से स्वागत होगा हमारा यह दृढ़ विश्वास है।"

इसी प्रकार अँगरेजी के प्रसिद्ध दैनिक पत्र Tribune ने २६-७-५१ ता० को 'इन्सान' के विषय में लिखा है—

'Insan' is a novel with a purpose. The purpose, is, as its title indicates, to proclaim that the loyalty which man owes to his fellow-beings far transcends the loyalty which he owes to any dogma or creed. This is by no means a new doctrine but it needs to be reiterated at a time when communal passions and violent political creeds have blinded man and degraded him to the level of animals. The scene of the story is laid in Lahore which, when the story opens, is caught in the grip of communal frenzy

and where arson, loot and murder are the order of the day. The scene shifts later to Delhi. Here we are introduced to anotherd danger— Communism and the violence of the misguided young men who realise at the end the futility of violence and terrorisation. The hero of the story, Ramesh, is an educated, idealistic and austere youth with a remarkable sense of duty and courage and a rare capacity for leadership. Other male characters are, more or less, cast in a similar mould. They are all highly educated, all are anxious to serve their country according to thesir lights. Some of the women characters are interesting,chief among them being Kamala, the daughter of a rich man, strikingly beautiful, a communist by political conviction and eager to overthrow the capitalistic system as expeditiously as possible. Though essentially a politlcal novel, 'Insan' is not without element of romance. There are , in fact, four young women in the novel, each with a distinct personality, each capaple of inspiring strong emotions. It can be said that the characterisation of the story is of a very high order and the story itself is very gripping. 'Insan' has other good qualities too. It gives a good account of the forces in which the Indian subcontinent is

caught up and it preaches a lofty ideal. The author is singularly free from communal bias and has a progressive outlook on life. A novel like 'Insan' is of high educational value."

इन्सान उपन्यास भारत की नवचेतना का इतिहास है जिसमें भारत विभाजन से आज तक होने वाली उथल-पुथल पर साँकेतिक रूप से कलाकार के नाते प्रकाश डाला गया है। 'इन्सान' में भारत की राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर इसके पात्र केवल उस समय तक चलते हैं जब तक कि कोरिया-युद्ध के एक भयंकर विश्व व्यापी महायुद्ध में परिणित होने की सम्भावना सामने नहीं आती।

कोरिया युद्ध के छिड़ जाने से विश्व की राजनीति ने पल्टा खाया और रंगे हुए सियार अपने वंश को न छुपा सके। अमरीका की चालें विश्व पर खुल गईं। भारत को इसी समय एक बड़े भारी अन्न-अकाल का सामना करना पड़ा और उसने विश्व के सभी देशों के सम्मुख अपनी कठिन परिस्थिति को मानवता के नाते रखा। भारत की इस कठिन परिस्थिति में अमरीका ने दबा कर भारत की विदेशी नीति पर छा जाना चाहा परन्तु पं० जवाहर लाल नेहरू ने भारत की आन को पेट के ऊपर बलिदान नहीं होने दिया। इस अवसर पर रूस और चीन ने अपना मित्रता का हाथ भारत की ओर बढ़ाया और भारत ने सहर्ष उनका स्वागत किया। जब समस्त विश्व की सहानुभूति भारत की ओर झुकी तो अमेरिका को भी लज्जा आई और उसने भी भारत को अन्न दिया। भारत ने उसे भी सहर्ष स्वीकार किया परन्तु अपनी नीति पर बल नहीं आने दिया।

मेरा 'इन्सान' अभी अधूरा है। इसका दूसरा भाग 'इन्सान के बाद' पाठकों के सम्मुख आने वाला है, जिसमें कोरिया

युद्ध के पश्चात् आज तक भारत की-राष्ट्रीय चेतना का कलात्मक चित्रण किया गया है।

'अंतिम चरण' मेरा एक व्यंग्य-प्रधान उपन्यास है और मैं अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि इस प्रकार का एक भी उपन्यास अभी तक हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुआ।

अंतिम चरण

इसमें देश की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को लिया गया है और उस सामाजिक तथा राष्ट्रीय-व्यवस्था के फल स्वरूप आज भारतीय मानव कितना स्वार्थी हो गया है इसका सजीव चित्रण किया गया है। किस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए देश के साथ आज खिलवाड़ किया जा रहा है और किस प्रकार लोभ और लालच में फँसकर पार्टीबाज़ी को सिद्धाँत बनाकर जनता को धोखा देने का प्रयत्न कया जा रहा है इसके जीवित प्रतीक इस उपन्यास में प्रस्तुत किए गए हैं।

मंत्री संकटानंद के रूप में हमने इस उपन्यास में एक ऐसा सबल पात्र प्रस्तुत किया है कि जिसने अपने जीवन का निर्माण ही दूसरों के शवों पर खड़े होकर किया है और वह फिर भी जनता का पथ-प्रर्शक होने का सगर्व दावा करता है। प्रारम्भ में आर्य-समाजी है, विधवा आश्रम, गऊशाला, आर्यसमाज इत्यादि संस्थाओं का मंत्री रहता है और संस्थाओं का निर्माण वह स्वयं करके उनका उच्च पदाधिकारी बन जाता है। चन्दे के रुपये से ऐश करता है और धर्म के नाम पर लोगों का पूज्य भी बन वैठता है। एक ओर स्वयं वेश्या के यहाँ जाता है, एक वेश्या-लड़की को उड़ा लाकर उससे पेशा कराकर स्वयँ कमीशन खाता है और दूसरी ओर चावड़ी बाज़ार से वेश्याओं को बाहर निकालने का आँदोलन इसलिए खड़ा करता है कि इससे शहर के युवक-समाज का अहित होता है। इसके पश्चात् वह 'हिंदू-कोड

बिल विरोधक मंडल' की स्थापना करता है, स्वामी ज्ञानानंद जी को बैनारस से बुलवात है, उनका बनारस का संस्कृत-विद्यालय बन्द करा देता है, उन्हें अपने हाथ की कठपुतली बनाकर प्रचार प्रारम्भ करता है, एक दैनिक पत्र निकाल डालता है, स्वामी जी को जेल भिजवा देता है और स्वयं निर्लिप्त कमल की भाँति आनन्द की बंसुरी बजाता हुआ वकील साहेब की नव-विवाहिता पत्नी पर डोरे डाल कर उसे प्रगति-शील बनाता है और पति को त्याग कर स्वतंत्र होंने की अनुमति देकर अन्त में उसे उड़ा ले जाने में सफल हो जाता है। उसे उड़ाने में वह ठाकुर राजबहादुर सिंह जो कि भारतीय संसद के मैम्बर हैं उनका प्रयोग करता है और अन्त में उनका तथा सेठ गूदड़मल जी का उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता है। 'हिंदू-कोड-बिल विरोधक मंडल' के मंत्री-पद को त्याग कर काँग्रेस के फ़ोल्ड में आ जाता है परन्तु वहाँ पर आचार्य किशनचन्द जी के सामने दाल न गलती देखकर तुन्त ही सोशलिस्ट पार्टी में चले जाने का निश्चय कर लेता है और सेठ गूदड़मल जी पर वकील साहेब की पत्नी का जाल बिछा कर ऐंठे हुए रुपये से एक दैनिक पत्र निकाल डालता है। शहर भर में अपने नाम की धूम मचा देता है। इस प्रकार गिरगित की भाँति रंग बदलने वालों की आजकल भारतीय राजनीति में कमी नहीं है। मंत्री संकटानंद के अतिरिक्त स्वामी ज्ञानानंद, सरोज, ब्रह्मचारी आनंद प्रकाश, वकील साहेब और वकील साहेब की पत्नी सभी पात्र इस उपन्यास में पूर्ण रूप से विकसित किए गए हैं। स्वामी ज्ञानानंद जी अपने को भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा संरक्षक समझते हैं और संस्कृत के प्रकांड पंडित तो वह हैं भी। चाणक्य की कूट नीति के ग्रंथ उन्होंने पढ़े हैं और जिन दिनों काँग्रेस के नेता सन् १९४२ में जेलों में सड़ रहे थे उन्होंने एक महान यज्ञ किया था।

वह यज्ञ बहुत सफल रहा था और स्वयं भगवान भी उसे देख कर बरस पड़े थे। जब भारत स्वतंत्र हुआ और अंतर्कालीन सरकार बनी तो पं० जवाहरलाल जी ने सभी पार्टियों के नेताओं को मिलाने का प्रयत्न किया परन्तु स्वामी ज्ञानानंद जी के पास कोई सूचना नहीं भेजी। इस अपमान को सहन करना स्वामी ज्ञानानंद जी के बस की बात नहीं थी। मंत्री संकटानंद जी का निमंत्रण पाते ही वह अपना किराए से देहली आ पधारे और हिंदूकोड बिल का विरोध करने में जी जान से लग गए। बाद में उनकी क्या दशा हुई इसका चित्रण यहाँ देना कठिन है।

'अन्तिम चरण' उपन्यास में सामाजिक तथा राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार की रुढियों का खंडन किया गया है और अन्त में जनता की शक्ति का प्रदर्शन भी पाठकों के सम्मुख आता है। उपन्यास में समस्याएँ हैं और उनके सुझाव भी। विशेष बल पात्रों के चित्रण पर ही दिया गया है और जहाँ तक भी सम्भव हो सकता है पात्रों के जीवन और उनके रहस्यों को विकसित करने में कोई कसर उठाकर नहीं रखी गई।

इस उपन्यास में एक से एक निखरा हुआ और उभरा हुआ पात्र है और हर पात्र अपने में अपनी विशेषता रखता है। परिस्थितियां पात्रों के क्रिया कलाओं से स्वयं बनती चली गई हैं। मैंने न पहिले सोची थीं और न ही उनकी कोई व्यवस्था ही की थी। लिखते लिखते जो परिस्थितियाँ जैसी बनती चली गई हैं उनको उसी रूप में प्रस्तुत कर दिया है। इस उपन्यास में यह दिखलाया गया है कि आज की धार्मिक तथा राजनीतिक दलबन्दी किस प्रकार भारत में आगामी चुनावों की ओर लपलपा कर अपने अपने स्वार्थों को साथ लिए बढ़ रही हैं। परन्तु आज भारत की जनता भी सजग हो चली है और उसे यों ही उल्लू नहीं बनाया जा सकता। जनता अपने हितैषियों को पहिचानने